

# व्यक्तिगत

लक्ष्मीनारायण लाल

‘व्यक्तिगत’ लक्ष्मीनारायण लाल का वास्तव में उनका व्यक्तिगत नाटक है—उनके अपने नाट्य-प्रकार का जिसे लीला रंगमंच के नाम से ख्याति मिली है। यह नाटक अखिल भारतीय स्तर पर अत्यन्त लोकप्रिय है, जिसे प्रत्येक निर्देशक और अभिनेता ने व्यक्तिगत ढंग से प्रस्तुत किया है।

‘व्यक्तिगत’ अब इस नए संस्करण में अपने नए दूसरे भोग के साथ, अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत है।

नाटक में एक प्रमुख चरित्र है ‘मैं’। वह ‘मैं’ मामूली पात्र नहीं है। वह संपूर्ण चरित्र है—स्वातन्त्र्योत्तर भारत के जीवन—नाटक का।.....वही ‘मैं’ पूंजीपति है। वही ‘मैं’ नेता है। शोषण ही उसके लिए जीवन है और इसमें उसकी पत्नी ‘वह’ एक दिलचस्प शिकार है।

इस नाटक में समय, काल का उपयोग अनेक अर्थों में किया गया है। इसकी हर वस्तु, हर घटना समसामयिक जीवन—अर्थों को उद्घाटित करती चलती है—अपनी अनुभूति, विचार और रूपबंध में नाटककार लाल की एक नई सशक्त कृति।

टी० पी० भाई  
और  
शीला बहन को

**1984 के संस्करण पर  
दो शब्द**

इस संस्करण पर दो शब्द लिखते हुए मुझे संतोष है कि यह नाट्य-कृति जहाँ भी, जिस रूप में, जिस भाषा में पढ़ी गई या नाट्य-कृति जहाँ भी, जिस रूप में, जिस भाषा में पढ़ी गई या नाट्य-दलों, निर्देशकों और अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत हुई, सर्वत्र इसे बड़ी सफलतायें प्राप्त हुई हैं।

इस नाटक में भाग लेने वाले अनेक अभिनेता, जो अब फिल्म जगत में प्रसिद्धि पा चुके हैं, उनसे जब कभी मेरी भेंट होती है, वे इस नाटक को बहुत याद करते हैं। उनका कहना यही होता है कि यह नाटक आरम्भ से अन्त तक बहुत उत्तेजक है फिर भी बहुत "रिलैक्स्ड" है। यह नाटक एक ऐसा खेल है, जिसमें हम सब लोग इसके सहज पात्र बन जाते हैं।

इस नाटक का पहला अंक अपने आप में सम्पूर्ण-सा है। इस का दूसरा अंक भी अपने आप में पूर्ण है। इन दोनों अंकों को मैंने स्वतंत्र रूप से मंच पर प्रस्तुत होते देखा है। पर मुझे सदा दोनों अंक मिलकर ही इस नाटक की सम्पूर्णता की अनुभूति देते रहे हैं। दोनों अंक एक नाटक के दो अभिन्न पक्ष हैं। ठीक उसी तरह जैसे 'मैं' का अभिनय पक्ष 'तुम' है, जैसे 'तुम' का अभिन्न अंग 'वह' है।

'मैं' चरित्र को, इस नाटक के पहले निर्देशक श्री एम० के० रैना ने एक कीड़े के रूप में देखा था जो सतत हड़ पता है। निर्देशक रैना के इस विचार से अब मैं पूरा सहमत हूँ। 'मैं' का निर्माण कैसे होता है, यह 'मैं' वास्तव में है क्या ? इसकी पकड़ दूसरे अंक में अब पूरी हो चुकी है, ऐसा मेरा अनुभव है।

व्यक्तिगत, मेरा प्रियतम नाटक है। इसलिए कि यह बेहूद चुनौतीपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त सहज है। ठीक उसी तरह जैसे मैं स्वयं हूँ।

**—लक्ष्मीनारायण लाल**

नई दिल्ली

22 जून, 84

## 1980 के संस्करण पर

### दो शब्द

इस बीच 'व्यक्तिगत' ने स्वतः सहज ही अपना विकास किया है। इसने मुझसे अपने आप को संपूर्ण किया है। एक नया अंक इसने मुझसे 'रचाया है'—इसलिए कह रहा हूँ कि इसे लिखकर पहले मैंने खुद खेला है। मैं का अभिनय मैंने स्वयं किया है।

स्वयं अभिनय—निर्देशन कर दूसरे अंक को फिर से लिखना पड़ा।

इस नये संस्करण में दो नये नाट्य तत्वों से आपका साक्षात्कार होगा— पहला पृष्ठभूमि का अबाध गायन स्वर—आलाप, दूसरा किन्हीं क्षणों—स्थलों पर स्त्री—पुरुषों के विभिन्न अभिनटन।

इस विकास, नवरचना के पीछे 1974 से लेकर 1979 तक हुए 'व्यक्तिगत' के उन अनेक—विविध प्रदर्शनों का हाथ है जो हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनेकानेक नाट्यदलों, निर्देशकों—अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत हुए हैं।

मैं उन सब नाट्यदलों, निर्देशकों, अभिनेताओं, रंग—अनुष्ठान कर्ताओं और इसके अपार दर्शकों का कृतज्ञ हूँ।

यह विकास, यह नव—संस्करण मेरा व्यक्तिगत विकास और आत्मसंस्करण है।

—लक्ष्मीनारायण लाल

## निर्देशक की बात

दिसम्बर, उन्नीस सौ चौहत्तर, कलकत्ता में आयोजित 'अनामिका' नाट्य महोत्सव के लिए 'यात्रिक' दिल्ली की तरफ से प्रस्तुत करने के लिए यह नाटक, जिसका नाम 'व्यक्तिगत' है, मुझे मिला तो मुझे अकस्मात् यह अजब संयोग—सा लगा। बल्कि यह समझना चाहिए कि मुझे लगा कि कोई अप्रत्याशित घटना घटी है। मुझे इस नाटक का निर्देशन करना था, जबकि मुझे इस नाटक के बारे में कुछ भी पता नहीं था।

मैंने तब तक इसे पढ़ा तक न था। पर इससे संबंधित अनेक लोग ऐसा समझते और विश्वास करते थे कि मैंने यह नाटक पढ़ रखा है।

पर जब मैंने इस नाटक को पढ़ा, मुझे यह पर्याप्त उत्तेजक लगा। मनोरंजक और मौलिक तो था ही। नाटक अपने कई धरातलों पर जीवंत और अर्थपूर्णता का अनुभव दे, यही फिर निर्देशक की रचना के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। जैसे—जैसे मैं इस नाटक को पढ़ने लगा, पढ़ता गया, इसकी पंक्तें खुलती गयीं। और मुझे यह अत्यधिक महत्वपूर्ण लगा। उत्तेजक और महत्वपूर्ण मुझे इसलिए भी लगा कि नाटक की पांडुलिपि में नाटककार ने एक शुद्ध नाटक की रचना कर, फिर भी निर्देशक और अभिनेता के लिए कोई निर्देशन नहीं दिया था। रचनाकार लक्ष्मीनारायण लाल केवल नाटककार थे और उनका एक अतिसंयमी नाट्यधर्मी रूप इस 'व्यक्तिगत' में अभिव्यक्त हुआ था।

निर्देशन नहीं थे। इसलिए 'व्यक्तिगत' के लिखित शब्दों ने मुझे मंच पर दृश्यबिम्बों की रचना की और सहज ही प्रेरित किया। आकार को साकार करना जिसे कहते हैं, कुछ वैसा ही भाव मुझे मिला इसकी निर्देशन—प्रक्रिया में।

फिर मुझ में एक और विशेष भाव जगा इस नाटक के बारे में। रंगमंच की सरल और सहज भाषा, व्यंजनाओं और दृश्य अर्थों में इसे प्रस्तुत करूँ ताकि सामान्य दर्शक भी इसका आनन्द पा सकें।

हालांकि इसके लेखक, नाटककार लाल दिल्ली में ही थे, फिर भी मैं स्वयं उनसे किसी लंबे और बौद्धिक वाद—विवाद में नहीं पड़ना चाहता था। मैंने अनुभव किया, यह नाटक अपने—आप में पर्याप्त था। यह स्वयं अपने रंगमंच की तीव्र अनुभूति लिये था। फिर लगा कि लेखक तो पहले ही अपनी पूरी ईमानदारी से अपने इस नाटक द्वारा अपने—आप को अभिव्यक्त कर चुका है।

पर फिर भी समस्या थी नाटक के भीतर से नाटक के रूपबंध को पकड़ने और उसी की रंग—शैली में उसे प्रस्तुत करने की।

क्या इसे सीधे यथार्थवादी अथवा साग्रह अयथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया जाए ? या वगैरह—शैली में.....

मैं इन सबसे झिझक रहा था। इतनी आसानी से निर्णय लेना संभव नहीं लग रहा था।

क्योंकि 'व्यक्तिगत' अपनी अनुभूति, विचार और रूपबंध में नया और मौलिक था, मैं भी उसकी तरह होना चाहता था।

क्योंकि इसकी पूरी गुंजाइश है यहाँ। मैं सबसे और यहाँ तक कि अपने से भी अलग हटकर कार्य करना चाहता था।

धीरे—धीरे जिस चरित्र ने इस नाटक में मुझे बांधना और चुनौती देना शुरू किया, वह था 'मैं'।

'मैं' का बहुआयामी बिम्ब, और अनेकस्तरीय अर्थ और उसकी रूप व्यंजनाएँ। इस 'मैं' की परिभाषा इकाई नहीं वरन् गुणात्मक प्रतिबिम्ब खींचती है। ऐसे 'मैं' को जो आजादी के बाद की हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था और उनकी शक्तियों और प्रेरणाओं से पैदा हुआ, उसे व्याख्यायित और रूपायित करना इतना सरल नहीं। वह संपूर्ण चरित्र

है—स्वातंत्रयोत्तर भारतवर्ष के जीवन—नाटक का। वह बस, लेना जानता है, देना नहीं। लेना भी नहीं, वह 'मैं' बस हड़पना जानता है। जीवी नहीं है 'मैं', 'मैं' है उपजीवी। वह भोगता है, उपभोक्ता, वह रचना नहीं जानता। वह होता है। जीता नहीं। पहले जो एक संपूर्ण आईना था, पूरा दर्पण, वही अब टूटकर अनेक टुकड़ों में बिखर गया और वह 'मैं' उन अनेक टुकड़ों में दिखाई पड़ता है। 'मैं' नहीं, उस 'मैं' का प्रतिबिम्ब टूटे हुए दर्पण के हर टुकड़े में।

वही 'मैं' सब अच्छी चीजों का भोक्ता है। वही 'मैं' पूंजीपति है। वही 'मैं' नेता है। वही 'मैं' राजशक्ति, धनशक्ति और अंत में अंधविश्वास, गुंडा—बल से पूरे समाज को अपने अधिकार में ले जाना चाहता है। वह समाज को मनुष्य—समाज नहीं रहने देना चाहता। वह 'मैं' उसके केवल उपभोक्ता समाज बनाकर छोड़ देना चाहता है, जिसकी नियति किसी और के वश में है। कोमलता, माधुर्य, सौन्दर्य और तमाम मानवीय गुण उसके लिए इस 'मैं' के अंधकार में अदृश्य हैं। चाहे घर हो, समाज हो, कहीं भी कुछ हो, बाहर—भीतर, यहाँ—वहाँ, वह 'मैं' केवल प्रतीक है चोर, डाकू और हिंसक का। असत्य और विश्वासघात का। 'हड़प लो'—मैं की यही धुरी है, जिस पर उसका पूरा जीवन घूमता है। शोषण ही उसके लिए जीवन है और इसमें उसकी पत्नी 'वह' एक दिलचस्प आधार है।

'मैं' 'वह' के विपरीत खड़ा है। 'वह' जिसके पक्ष में है, 'मैं' उसी के विपरीत है, विपक्ष में नहीं।

'मैं' एक ऐसा कीड़ा है, जो सतत हड़पता है। इस प्रकृति ने उसे छोटा ही नहीं बनाया, उसे हर स्तर पर सबसे बहिष्कृत भी कर दिया है।

यहीं एक विषम स्थिति है। जब यह 'मैं' जो नितांत अकेला व्यक्ति है, हड़पने के अवसर की खोज में रहता है और उसके लिए ताक लगाये रहता है, तब सफलता प्राप्त करते ही वही 'मैं' स्वयं से ही अनेक अपनी ही तरह के व्यक्तियों को समाज में जन्म दे बैठता है। ठीक जैसे कीड़ों के जीवन में होता है।

इस पूरी पृष्ठभूमि के सूक्ष्म परीक्षण के बाद ही मैं 'मैं' के चरित्र के विशिष्ट गुणों और प्रकृति को निश्चित आकर दे पाया। और साथ ही मुझे जो विशेष चीज 'व्यक्तिगत' नाटक में आरंभ से ही उत्तेजित और प्रभावित करती आ रही थी, वह थी काल—स्थिति और समय—स्थिति की अपरिमित संभावनाएं। यहाँ इस नाटक में समय, काल का उपयोग अनेक अर्थों में किया गया है। और इस नाटक की हर वस्तु, हर घटना समसामयिक जीवन—अर्थों को उद्घाटित करती चलती है.....

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने ‘व्यक्तिगत’ नाटक 1973 में लिखा। दिसम्बर, सन् 1974 में, कलकत्ता में आयोजित अखिल भारतीय नाट्य में ‘यांत्रिक’ दिल्ली द्वारा यह कलकत्ता के कलामन्दिर के रंगभवन में पहली बार प्रस्तुत हुआ। मंच पर प्रस्तुत होकर इस नाटक को न केवल अखिल भारतीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, बल्कि भारतवर्ष के सभी युवा निर्देशकों, प्रस्तुतकर्ताओं और अभिनेताओं के बीच यह अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। यह नाटक अपने रूपबंध, रंगमंच-स्वरूप और नाट्य शैली में पूर्णतः प्रयोगधर्मी है, इसीलिए विशेषकर युवा रंगकर्मियों द्वारा भारत की सारी भाषाओं में यह लगातार प्रस्तुत किया जाने लगा।

प्रायः सभी निर्देशकों ने अलग-अलग ढंग से इस नाटक की व्याख्या अपनी प्रस्तुतियों में की। इसके प्रदर्शन भी अलग-अलग ढंग से किए गए। अभिनय की विभिन्न शैलियों भी इसके कई प्रदर्शनों में देखने को मिलीं। रंग-समीक्षकों और आलोचकों ने इसके वस्तु-विषय और कथ्य के बारे में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये। तब से आज तक यह नाटक लगातार निर्देशकों, रंग-समीक्षकों और दर्शकों के बीच चर्चा का विषय बना हुआ है। यह कितना बड़ा प्रमाण है इस नाटक की शक्तिमत्ता तथा इसकी जीवंतता का।

इस नाटक का विषय क्या है ?

प्रत्यक्षतः देखने पर इस नाटक का विषय बहुत ही सीधा और सरल है। यह नाटक अपने इस प्रश्न में अपने विषय को अंकित करता है : क्या पति-पत्नी के जीवन में कोई ऐसी बात है, जिसे हम व्यक्तिगत कह सकते हैं ? अपने इसी प्रश्न या विषय के साथ यह नाटक उत्तर ढूँढने चलता है : पति-पत्नी के जीवन में वह व्यक्तिगत चीज क्या है जिससे दाम्पत्य जीवन एक सूत्र में बँधकर चलता है ? इस नाटक में दो ही चरित्र हैं : ‘मैं’ और ‘वह’। ‘मैं’ यानि पुरुष, यानि पति। ‘वह’ माने स्त्री, अर्थात् पत्नी। इस तरह यह नाटक आरंभ से ही ‘मैं’ और ‘वह’, पति और पत्नी, स्त्री और पुरुष, इन तीनों धरातलों पर समानान्तर रूप से चलता है। कौन धरातल कहाँ तक चलता है, एक धरातल में दूसरा धरातल कब आ जाता है, कब इसका तीसरा धरातल अपने अन्य धरातलों में मिलकर एक हो जाता है, यही इस नाटक की रंग-शक्ति है।

पृष्ठभूमि से संगीत का आलाप उभरता है। उसी आलाप के साथ एक ओर से ‘मैं’ का मंच पर प्रवेश होता है। प्रवेश करते ही ‘मैं’ ‘वह’ को पुकारता है। ‘मैं’ अपने प्रवेश और आचरण के साथ अपनी चरित्रगत विशेषताओं का संकेत देने लगता है। जैसे, ‘मैं’ में कितनी झुँझलाहट है ‘वह’ के प्रति, जो उसका साथ नहीं दे पा रही। ‘मैं’ में कितनी तेजी है, गतिशीलता है, कर्मठता है। ‘वह’ में इसकी तुलना में ये तत्व कितने कम हैं।

‘मैं’ के मंच पर आने के बाद ‘वह’ का प्रवेश एक सैंडिल के टूट जाने के बहाने के साथ होता है। बस ‘मैं’ और ‘वह’ का नाटक शुरू हो जाता है।

वह : यह सैंडिल.....

मैं : बस, कोई न कोई बहाना चाहिए।

वह : तुम चलते नहीं, दौड़ते हो। हम टहलने निकले हैं।

मैं : तो !

वह : तो क्या ?

मैं : अब चलोगी भी कि बेमतलब की.....।

वह : बेमतलब की बातें तुम करते हो।

(दोनों टहलते हैं।)

वह : क्या सोच रहे हो ? कुछ बातें करो न।

मैं : ना बाबा, खामखा झगड़ा होने लगता है।

वह : ऐसा क्यों ? औरों के साथ हम कितने मजे से कितनी सारी बातें करते हैं।

मैं : पता नहीं।

(टहलते हैं।)

वह : क्या वजह है ?

मैं : वजह मैं बताऊँगा तो झगड़ा शुरू हो जाएगा।

(टहलना।)

मैं : दरअसल पत्नी के साथ बातें शुरू करते ही हम झट व्यक्तिगत बातों पर उतर आते हैं।

वह : पति-पत्नी में भी अगर व्यक्तिगत बातें न होंगी तो कहां होंगी.....

इस तरह 'मैं' और 'वह' दोनों इसी व्यक्तिगत स्तर पर एक-दूसरे से टकराते हैं। एक-दूसरे को नीचा भी दिखाने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे को काटते हैं और एक-दूसरे को मीठी चुनौतियाँ भी देते हैं। साथ ही दोनों एक-दूसरे को झिड़कियाँ और धमकियाँ भी देते हैं। ऐसा क्यों है ? इसलिए कि दोनों एक-दूसरे की कमजोरियों को खूब जानते हैं। "हम दोनों इसी तरह चले जाते हैं फिर वहीं वापस लौटने के लिए। जब शादी हुई थी तब हम ऐसे नहीं थे।"

'मैं' और 'वह' जब शादी नहीं हुई थी, तब ऐसे नहीं थे और आज ऐसे हो गए हैं। क्या शादी इतनी बड़ी घटना या दुर्घटना है, भारतीय समाज में ? इसके पीछे बात क्या है, यही 'मैं' और 'वह' दर्शकों और पाठकों को दिखाते और पूछते चलते हैं।

'मैं' 'वह' से शादी करने के बाद एक के बाद एक नौकरी छोड़ता हुआ क्रमशः नहीं, बल्कि यकायक ऊँची-नीची सीढ़ियों पर पैर रखता चला जाता है। जिस गति के साथ 'मैं' आगे बढ़ रहा है, उसी गति के साथ उसकी समस्याएँ, बल्कि उसकी आदतें भी उत्तरोत्तर बदलती और बढ़ती चली जा रही हैं। 'मैं' 'वह' के साथ उतना ही उलझता चला जाता है। और 'वह' 'मैं' के साथ उतनी दूर हटती चली जाती है।

ये सब इस तरह क्यों हो रहा है ? इसके पीछे कोई एक ही कारण है ? 'मैं' का एक आदर्श पुरुष है, मिस्टर मलहोत्रा। 'वह' का एक आदर्श पुरुष है : मिस्टर आनन्द, और श्रीमती आनन्द हैं उसकी प्रेरणा। आनन्द और श्रीमती आनन्द, उन मूल्यों और आदर्शों के प्रतीक हैं, जो 'मैं' और 'वह' दोनों के जीवन से अब भी कहीं बंधें और जुड़े हैं। उन्हीं जीवन मूल्यों से पूर्णतः छुटकारा पाकर 'मैं' स्वतन्त्र होकर खूब उन्नति करना चाहता है। 'वह' पाकर 'मैं' स्वतन्त्र होकर खूब उन्नति करना चाहता है। 'वह' इसी महत्वाकांक्षी, घमण्डी, धोखेबाज, क्रूर, विषयी 'मैं' के प्रतिपक्ष में है। यद्यपि 'वह' उसी 'मैं' से जुड़ी हुई है, जिसके विरोध में 'वह' खड़ी है। यही तत्व इस नाटक में बृहत्तर स्तर पर एक जबर्दस्त नाटकीयता पैदा करता है।



यह 'मैं' है क्या ? यह 'मैं' बनता कैसे है ? इस 'मैं' के निर्माण में कितनी शक्तियों का हाथ है ? इन सारे प्रश्नों के साथ यह नाटक अपनी बनावट, अपने रूप-बंध, और रचना में बड़ी गहराई से जुड़ा हुआ है। साथ ही 'मैं' 'वह' को अपनी भूमिका के बारे में बड़ी स्पष्टता से समझाता भी चलता है और प्रमाण सहित उसके कारण भी देता है। 'मैं' कहता है, "जो चीज मुझे पसन्द है—वह मेरी है। पसन्द का सम्बन्ध इच्छा से है। इच्छा प्रकृति का गुण है। इच्छा को रोकना प्रकृति के उसूलों के खिलाफ है। इससे खामखा तनाव पैदा होता है और अनेक मानसिक समस्याओं के जाल में फँसना होता है। इससे मनुष्य का विकास रुक जाता है। मनुष्य अकेला है—मिसेज आनन्द इसे नहीं मानती, पर मैं मानता है, यह मेरा निजी अनुभव है—क्योंकि मुझे अपनी समस्याओं का हल खुल अकेले ढूँढना पड़ता है।

इसके उत्तर में 'वह' भी दर्शकों और पाठकों को अपनी सफाई देती है और श्रीमती आनन्द के हवाले से 'मैं' के बारे में भी बताती है। अर्थात् 'वह' 'व्यक्तिगत' नाटक का दूसरा पहलू प्रस्तुत करती है :

वह : आप तो जानते ही हैं, हर बात के दो पहलू होते हैं। जब पति अपने—आपको स्वतन्त्र मानता है तो पत्नी उसे पुलिस इन्स्पेक्टर, सी.आई.डी० का दरोगा लगने लगती है, और पति उसे चोर, डाकू और उचक्का लगने लगता है।.....मैं अपनी पर्सनल बात बताऊँ। शादी से पहले मेरे दिल में सिर्फ एक पुरुष हुआ करता था—प्रेमी, साथी, जिसके साथ मैं जी सकूँ, विकास करती जाऊँ। लेकिन शादी हुई तो इनसे। फिर शादी के बाद मेरे दिल में उस पुरुष की जगह दो स्त्रियाँ आ बैठीं—एक 'मैं' और दूसरी श्रीमती आनन्द। यह कहती हैं—'मैं' ना तो सम्पूर्ण है ना स्वतन्त्र। मुझे उनकी बात समझ में नहीं आती। यह क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यह मुझे बेहद चाहते हैं—पर क्यों, किस तरह चाहते हैं ? यह हर वक्त मुझे प्रभावित किए रहना चाहते हैं, पर क्यों ? पति—पत्नी के रिश्ते में इसकी क्या जरूरत ? यह मेरे लिए ईमानदार हैं, पर लगता है, जैसे हर समय कोई चीज मुझसे छिपा रहे हैं मुझसे इतनी चतुराई क्यों ? मेरी आदत है.....संस्कार है.....छोटी—छोटी चीजों को भी महत्व देती हूँ पर इनके लिए छोटी मोटी चीजें कोई मायने नहीं रखतीं, पता नहीं इनकी नजर कहाँ से कहाँ दौड़ती रहती है।

उस दिन जैसे मेरे पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई, जब मुझे अनुभव हुआ, ये अपने लिए कुछ भी कर सकते हैं.....  
..।'

'मैं' व्यक्ति की बात करता है। 'वह' समाज की बात करती है। 'मैं' अपनी महत्वाकांक्षा को जीना चाहता है। 'वह' सबको साथ लेकर जीना चाहती है। 'मैं' हर तरह से स्वतन्त्र होना चाहता है, 'वह' संस्कारों की बात करती है। इस तरह इन दो के बीच इस नाटक में आदि से अन्त तक तमाम खेल होते हैं। जिसे नाटककार लाल ने 'लीला' कहा है। इसी खेल—खेल में समाज, परिवार और जीवन—मूल्य टूटे हैं, जिसे इस नाटक में आईना का प्रतीक दिया गया है। 'वह' 'मैं' के द्वारा अपनी आँखों पर पट्टी बंधवाकर कहती है, "मैं देख रही हूँ, एक संपूर्ण आईना था, जो टूटकर असंख्य टुकड़ों में बिखर गया।.....अब उसके हर टुकड़े में वही 'मैं' दिखता है और अपने—आपको संपूर्ण कहता है.....मैं धर्मपत्नी वाइफ, पार्टनर, नौकर, माँ, इंटेलेक्चुअल.....खिलौना.....वाइफआफए पोलीगेमस.....एक पूरा आईना था.....जो टूटकर अनगिनत.....तरह—तरह के टुकड़ों में बिखर गया.....  
।'

इसी खेल—खेल में अनेक जीवन तत्व इस नाटक से जुड़ते हैं। जैसे, सुरक्षा देने वाला मुहल्ले का गुण्डा—दादा। टेलीफोन का खेल करते—करते एक अनजान बालक : अंशू का जुड़ जाना, जिसे कमरे में बन्द कर उसकी माँ कहीं बाहर चली

गई है। और वह बच्चा रो रहा है। इस तरह के दृश्य-अदृश्य पात्रों से नाटककार ने सार्थक और सजीव रूप से यह बताना चाहा है कि इसी अंशू जैसे बालक की स्थितियों से 'मैं' जैसे चरित्र का निर्माण होता है।

'मैं' और 'वह' इस घरे से बाहर निकलना चाहते हैं। 'वह' निकल जाती है। 'मैं' अपने कमरे के घरे से बाहर नहीं निकल पाता। वह छटपटा कर रह जाता है। 'मैं' तो अपने सामान से, चीजों से बँधा है। इस तरह जकड़ा हुआ है कि वह बाहर निकल ही नहीं सकता। वह छटपटा कर रह जाता है। यही है मनुष्य का 'मैं' ?

नाटक का दूसरा अंक, अर्थात् नाटक का उत्तरार्ध, इसी प्रश्न के साथ खुलता है। तरह-तरह से 'मैं' की अभिव्यक्ति, 'मैं' की बनावट के संदर्भों में नाटक विकसित होता चलता है। इस सबके बावजूद नाटक अपनी तरफ से प्रश्न का उत्तर नहीं देता। उत्तर देने का प्रयत्न तो करता है, पर उसका हर उत्तर बार-बार एक नया प्रश्न बन जाता है।

'व्यक्तिगत' नाटक वस्तुतः जीवन के प्रति एक प्रश्न है।

'मैं' क्या है, 'मैं' का कोई 'व्यक्तिगत' जीवन हो भी सकता है ? यही इस नाटक का जीवन्त व्यक्तिगत प्रश्न है, जिसके हम सब भागीदार हैं और उत्तरदायी भी।

व्यक्तिगत

चरित्र  
में और  
वह  
श्रीमती आनन्द और.....

समय : वर्तमान

'व्यक्तिगत' का पहला प्रस्तुतीकरण 'यात्रिक', नयी दिल्ली, द्वारा उनतीस दिसम्बर उन्नीस सौ चौहत्तर को 'अनामिका, कलकत्ता, के अखिल भारतीय नाट्य महोत्सव में कला मंदिर के रंगभवन में हुआ।

भूमिका में

मैं : रवि वासवानी

वह : मोना चावला

श्रीमती आनन्द : मालती शुक्ल

निर्देशन

एम० के० रैना

## पहला अंक

### पहला दृश्य

(खाली अथवा खुले मंच पर प्रकाश आते ही पृष्ठभूमि से संगीत—आलाप उभरता है। एक ओर से 'मैं' आता है।)

मैं : ओहो, कहाँ रह गई ? जरा तेज कदम बढ़ाया करो। अगर टहलना है तो साथ—साथ चलो। कहाँ रह गई ?

(‘वह’ आती है।)

वह : यह सैंडिल.....

मैं : बस, कोई न कोई बहाना चाहिए।

वह : तुम चलते नहीं, दौड़ते हो। हम टहलने निकले हैं।

मैं : तो !

वह : तो क्या ?

मैं : अब चलोगी भी कि बेमतलब की.....

वह : बेमतलब की बातें तुम करती हो।

(दोनों टहलते हैं।)

वह : क्या सोच रहे हो ? कुछ बातें करो न।

मैं : ना बाबा, खामखा झगड़ा होने लगता है।

वह : ऐसा क्यों ? औरों के साथ हम कितने मजे से कितनी सारी बातें करते हैं।

मैं : पता नहीं।

(टहलते हैं।)

वह : क्या वजह हैं ?

मैं : वजह मैं बताऊँगा तो झगड़ा शुरू हो जाएगा।

(टहलना)

मैं : दरअसल पत्नी के साथ बातें शुरू करते ही हम झट व्यक्तिगत बातें पर उतर आते हैं।

वह : पति—पत्नी में भी अगर व्यक्तिगत बातें न होंगी तो कहाँ होंगी ?.....

(दोनों टहलने लगते हैं।)

वह : पता नहीं, मिस्टर और मिशेज वर्मा रोज कैसे एक साथ टहलते हैं ?

मैं : पेट के मरीज होंगे। मैंने देखा है, मिस्टर वर्मा अंडर सेक्रेटरी के साथ गोल्फ खेलते हैं।

वह : मिस्टर वर्मा जब भी कहीं बाहर दौरे पर जाते हैं, अपनी मिसेज के लिए साड़ियाँ ले आते हैं।

मैं : मिसेज शर्मा ने अपने किचन गार्डन से पाँच सौ रुपये के आलू बेचे।

वह : हम दोनों एक ही तरह की बातें क्यों करते हैं ?

मैं : यही तो मैं पूछने जा रहा था।

(टहलना)

वह : हम कोई और बात क्यों नहीं करते ?

मैं : और ? और क्या ?

वह : और !.....और क्या हाल-चाल है ?.....क्या हाल है और ? उनकी और तरक्की हुई ? मुझे कुछ साड़ियों चाहिए। इन्हें भी और चाहिए। कुछ चीजें और लेनी हैं, चाहे जैसे। और बात यह है कि .....ओहो ! कहाँ हो जी !

(ढूँढती है।)

वह : कहाँ हो ?

मैं : (आकर) मेरे पास इत्ता फजूल का वक्त नहीं।

वह : पता है, तुम्हें मेरा साथ पसन्द नहीं। (अलग से) वैसे पसन्द मुझे भी नहीं है।

मैं : क्या ?

वह : अगर कहने लायक बात न हो तो ?

मैं : यह कहो-हिम्मत नहीं है !

वह : आप में हिम्मत है ? रोज बाहर से घर में घुसते ही चिल्लाएंगे-फलों ऐसा है.....उसने ऐसा किया। उसने ऐसा कहा.....वह इत्ता झूठा है। वह इत्ता भ्रष्ट है, अनैतिक है.....कायर है, व्यभिचारी है.....विश्वासघाती है.....जाने कहाँ-कहाँ से संस्कृत-हिन्दी डिक्शनरी के इतने-इतने मुश्किल शब्द.....।

मैं : बाहर की उस दुनिया से तुम्हें मुकाबला करना पड़े तो पता चले।

वह : ऐसे लोगों के बीच जाते क्यों हो ?

मैं : क्योंकि ऐसे ही लोगों से काम पड़ता है।

वह : छोड़ दो ऐसे काम।

मैं : कहना आसान है।

वह : फिर उनसे कहते क्यों नहीं.....तुम यह हो.....यह हो ऐसे.....ऐसे.....यह हो तुम !

मैं : टहलना है कि घर चलें ?

वह : उन लोगों के सामने तो खूबसूरत-सा मुँह बनाये रखेंगे। मुस्कराएंगे, हँसेंगे और घर में आकर शून्य में तीर चलाएंगे-हमारी सरकार, शासन-व्यवस्था, भ्रष्टाचार, झूठ, पाखंड, सांस्कृतिक चेतना.....नैतिकता-वही बड़बड़-बड़बड़ !

मैं : जा रहा हूँ।

वह : तो जाओ ना।

(मैं जाता हूँ।)

वह : जायेंगे कहीं नहीं। आखिर जायेंगे कहाँ ? हम दोनों इसी तरह चले जाते हैं, फिर वहीं पास लौटने के लिए। जब शादी हुई थी, तब हम ऐसे नहीं थे। (सहसा) सुनिए, एक बात बताती हूँ, आप भी सुन लीजिए, यह शादी मैंने नहीं, उन्होंने मुझसे की है। मैं तो तब बिल्कुल यही बीस-इक्कीस साल की थी। बी. ए. करके वोकल म्यूजिक में.....दिन-रात रियाज करती थीं-वागेश्वरी, शंकरा, यमन कल्याण मेरे प्रिय राग थे.....

(पृष्ठभूमि का संगीत-गायन छा जाता है। लगता है, सारा दृश्य और सारा प्रसंग धीरे-धीरे बदल रहा है। 'वह' आनन्द विभोर है अपने गायन में। 'मैं' चुपके से कमरे में प्रवेश कर संगीत का आनन्द लेने लगता है।)

## दूसरा दृश्य

मैं : (सहसा) वाह-वाह-वाह.....क्या.....क्या.....

वह : आपकी तारीफ ? कैसे आए यहाँ ?

मैं : जी, माफ कर दीजिए.....गलती हो गई।

वह : अच्छा। बाहर जाइए !

मैं : हैं-हैं-हैं-हैं !

वह : बड़े बत्तमीज हैं !

मैं : मिसेज सिन्हा की डिनर पार्टी में, जब से आपको देखा है.....

वह : अच्छा आगे बढ़िए।

मैं : बी. ए., बी. काम., एल. एल. बी.-तीनों हूँ। एक अच्छी-सी नौकरी मिल चुकी है-बैंक में पी.आर.ओ. की। वैसे मेर यहाँ लोहे और कागज का बिजनेस भी है.....अच्छा-खासा। मरे पिता पॉलीटिशियन हैं.....मेट्रोपॉलिटन काउंसिल के मेम्बर रह चुके हैं, और.....

वह : मतलब अब आपको एक अच्छी-खासी बीवी की तलाश है।

मैं : आप पूरब की लगती हैं।

वह : लखनऊ की।

मैं : मैं भी कानुपर का हूँ। कायस्थ हूँ। आप भी कायस्थ हैं। आप श्रीवास्तव.....मैं सक्सेना.....मगर इन बातों से क्या फर्क पड़ता है। सोचिए ना, जब आदमी चंद्रमा पर पहुँच गया.....मैं आपको 'बोर' तो नहीं कर रहा ? (विराम) पता नही क्यों, आपसे इस तरह बातें करना बहुत अच्छा लग रहा है। आप बहुत अच्छा गाती हैं-नहीं-नहीं, बात यह है कि.....ऐसा है.....आपके फादर क्या हैं ?

वह : बेकार.....।

मैं : क्या मजाक करती हैं ? आपके डैडी आई.ए.एस. हैं.....डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मुरादाबाद.....और यह आपके अंकल का बंगला है।

वह : अच्छा ! और ?

मैं : बात यह है कि .....ऐसा है.....मेरे पिताजी, माफ कीजिए, हम डैडी नहीं कहते। वह मुझे बेतरह तंग कर रहे हैं कि मैं शादी कर लूँ। रोज कोई-न-कोई लड़की वाला.....एक से एक बड़े रिश्ते (सहसा) बताइए भला, ऐसी लड़कियों से कोई कैसे शादी करे ! शादी को लोगों ने खेल-तमाशा बना रखा है। शादी एक निजी.....व्यक्तिगत चीज है.....दो आत्माओं का मिलन

है—जिसकी बुनियाद है प्रेम। ऐसा प्रेम, जहाँ से पति—पत्नी में निरन्तर एक 'ग्रोथ' हो। विकास। यही विकास तो समाज का विकास है।

वह : अब आप मुझे वाकई बोर कर रहे हैं।

(विराम)

मैं : लोग शादी करके स्त्री को धर्मपत्नी बना लेते हैं ; मैं कहता हूँ, उसे दोस्त क्यों नहीं बनाते ?

वह : अच्छा जी, नमस्ते।

मैं : सुनिए.....प्लीज, मेरी बात सुनिए। मैं ऐसी बेबुनियाद शादियाँ नहीं करना चाहता। माफ कीजिए, शादियाँ माने शादी।

(विराम)

मैं : .....जा रही हैं ?

वह : जाना चाहिए।

मैं : यही तो मुसीबत है.....अब जाना चाहिए, अब खाना चाहिए, अब सोना चाहिए, (विराम) माफ कीजिए।

वह : और अब माफ करना चाहिए।

मैं : फिर कब मुलाकात होगी ? .....अरे, मुझसे ऐसी कौन—सी गलती हो गई ?

वह : आप बुनियादी तौर पर 'बोर' हैं। जिस लड़की पर कृपा कर शादी करेंगे ना, बस.....

मैं : हे ईश्वर, अब सच कहने का वक्त आ ही गया। मैं शादी करूँगा तो सिर्फ आपसे।

(पैरों पर गिरने लगता है।)

वह : यह क्या बत्तमीजी है ? छोड़ते हो या शोर मजाऊँ !

(छुड़ाती, भागती है। वह अकेली आती है।)

वह : मैं। जितना ही दूर भागती, उतना ही यह मेरे पीछे पड़ते गए। मेरी आंटी को पटाया। मेरे पपा—ममा पर मक्खन लगाने लगे। क्या—क्या वादे, क्या—क्या कसमें। (विराम) मगर छोड़िए, ये तो आम बातें हैं। खास बात सिर्फ यह, कि सचमुच अगर मैं अपनी यह शादी न चाहती, तो कैसे होती ? (विराम) इन्होंने मुझसे ही शादी क्यों की, यह अब धीरे—धीरे समझ में आ रहा है, पर मैंने क्यों की, यह साफ—साफ समझ में नहीं आता। मिसेज आनन्द कहती हैं—चाहने और होने में जो फर्क है, वही है हमारी शादी। मैं आप लोगों से कुछ व्यक्तिगत बात करना चाहती थी, पर खामखाह मिसेज आनन्द का नाम मुझे क्यों याद आ जाता है ? भीतर जैसे कुछ जलने लगता है, उनकी याद आते ही। खैर, (विराम) शादी हो गई मेरी।

### तीसरा दृश्य

(मैं आता है।)

मैं : क्या बातें कर रही हो ? किससे ?

वह : शादी हो गयी।



मैं : मुबारक हो। चलिए.....हम टहलने निकले हैं।

वह : शादी हो गयी।

मैं : हो गयी।.....और ?

वह : फिर हिसाब-किताब रोकड़-बही। शादी में पपा ने वह 'कार' क्यों नहीं दी ?

मैं : बेशक।

वह : उतने रुपये 'कैश' क्यों नहीं दिये ?

मैं : उनकी इतनी ताकत, पहुँच, मुझे फायदा क्या हुआ ?

वह : गिनाएँ फायदे ?

मैं : देखों वही बात हुई ना, तुम झट व्यक्तिगत बातों पर उतर आती हो। जबकि तुम जानती हो, मुझे एक से बढ़कर लड़की शादी में मिल रही थी। एक से एक मोटे दहेज। एक शादी तो इतनी बढ़िया थी कि मेरे पिताजी का राजनीतिक जीवन एकाएक चमक जाता। खैर, मैं व्यक्तिगत बातें नहीं करना चाहता।

वह : बकते जाओ।

(चलना)

वह : श्रीमती आनन्द कहती थीं.....

मैं : यह नाम लेकर मुझे चिढ़ाना चाहती हो ?

वह : कितना अच्छा नाम है-श्रीमती आनन्द।

मैं : चलो मैं आता हूँ।

(छींकना)

वह : मेरा ख्याल है-आपस में बातें करने के बजाय, छींक लेना बेहतर है।

मैं : तुम्हारे साथ में खुलकर छींक भी तो नहीं सकता। बस नाक में खुजली मच जाती है।

वह : (जाती हुई) यही तो रोग है।

(चली जाती है। मैं छींकने और नाक साफ करने का बहाना करता है।)

मैं : जनाब ! कुछ बातें हैं, जरूर हैं-पर सवाल यह है कि उन्हें कैसे कहा जाये। जैसे, मुझे पता है, वह काफी दूर अभी नहीं गयी हैं, और मैं अपनी बातें, आप सब को बिल्कुल अपना समझ कर कह देना चाहता हूँ। पर कहाँ से शुरू करूँ ! चलिए, एक बार छींक लेता हूँ-शायद इसी तरह बात निकल आए। देखिए-छींक भी नहीं आई। ऐसे ही होता है, वक्त पर छींक भी नहीं आती। दरअसल मैं आप लोगों से कुछ सलाह लेना चाहता हूँ। जैसे शादीशुदा लोग आजकल चार बच्चों के माँ-बाप होने के बाद परिवार-नियोजन केन्द्र में जाकर डॉक्टर से सलाह लेना चाहते हैं, पर हिचकिचाते हैं ; क्योंकि कुछ मामलों में उन्हें अधिक जानकारी चाहिए, पर संदेह और संकोच। पर मुझे वैसा संदेह और संकोच नहीं है। मैं बड़े साफ दिल का आदमी हूँ....पर वह कहती हैं, मैं नहीं हूँ। मैं निःसंकोच कहता हूँ, पुरुष का लक्षण है-उसकी हर इच्छा की पूर्ति, चाहे जैसे। वह कहती है, यह गलत है। मेरा ख्याल है, हमने जितना कुछ साहित्य पढ़ा है, वह काफी नहीं है। आप जानते हैं, सभी बातें पुस्तकों में नहीं लिखी जातीं। खासकर किताबों में हमारी निजी समस्याओं पर कतई विचार नहीं किया जाता।

(वह आती है। मैं एकाएक छींकता है और दूसरी छींक के लिए मुँह ऊपर तानता है।)

वह : सुनिए !

(मैं हाथ से इशारा करता है।)

वह : कोई जरूरी है कि इसी समय तुम्हें छींक आए !

मैं : सारा चौपट कर दिया। छींक बिलकुल यहाँ से चलकर यहाँ आ चुकी थी।

वह : अब तो नहीं आ रही !

मैं : आएगी क्यों नहीं, मेरी इच्छा जो है।

वह : वाह रे तेरी इच्छा !

(जाती है।)

मैं : यह चक्कर बहुत दिनों से चल रहा है—यूँ समझिए, शादी के पाँचवे महीने से। मैं उस दिन एक उपहार ले आया इनके लिए.

.....

### चौथा दृश्य

मैं : देखो कौन आया है ? दरवाजा खोलो ? सुनती हो जी !

(वह निकलती है।)

वह : (प्यार से) क्या है जी !

(दोनों की हँसी)

मैं : बताओ, तुम्हारे लिए क्या उपहार ले आया ?

वह : तुम !

मैं : नहीं, बताओ क्या है !

वह : साड़ी।

मैं : नहीं।

वह : किताब।

मैं : (सिर हिलाता है।) उँहुअ.....

वह : आओ, चलो चाय पिएँ।

मैं : हार गईं न। यह देखो। (खोलना) गले का हार !

(देखकर आश्चर्यचकित रह जाती है।)

वह : यह असली है ?

मैं : और क्या।

वह : कितने का है ?

मैं : बुरी बात, उपहार की कीमत नहीं पूछी जाती।

वह : यह तो बहुत कीमती है। कहाँ से ले आए ?

मैं : पहले पहन लो।

वह : बताओ कितने का है ? इतनी महँगी चीज क्यों ले आए ? इसकी क्या जरूरत थी ? बोलो।

मैं : तुम्हारे लिए एक उपहार ले आया, इतनी-सी बात क्या काफी नहीं ?

वह : तुम्हें इतनी रकम कहाँ से मिली, क्या मुझे इतना भी जानने का अधिकार नहीं ?

मैं : तुम हर चीज का मजा खराब कर देती हो ?

वह : अच्छा, लो पहना दो।

(पहनाता है।)

वह : अच्छा अब बताओ।

मैं : मेरी कमाई है। पूरे कई हजार।.....ऐसा है कि एक आदमी को बैंक से तीस हजार 'लोन' लेने थे।

वह : तो यह कमीशन है !

मैं : मेरी कमाई है।

वह : कैसी कमाई ?

(विराम)

मैं : देखो यह हार बिल्कुल उसी तरह का है, जैसे मिसेज रामलाल उस दिन पहनकर डिनर पार्टी में मिली थीं।

वह : मैं मिसेज रामलाल हूँ ?

(विराम)

मैं : मेरा मतलब.....।

वह : ऐसा क्यों करते हो ?

मैं : सब करते हैं।

(देखती रह जाती है।)

वह : तुम्हारे दोस्त मिस्टर आनन्द ऐसा करते हैं ?

मैं : उन्हें पूछता ही कौन है ?

वह : मैं पूछती हूँ—मिस्टर आनन्द मनुष्य नहीं हैं ? उनकी पत्नी मिसेज आनन्द क्या किसी से कम हैं ?

मैं : दूसरों की बातें क्यों करती हो ?

वह : दूसरों की बातें तुमने शुरू कीं। 'ऐसा सब करते हैं'।

(विराम)

मैं : तुमने मेरा अपमान किया।

वह : हम दोनों ने मिलकर एक-दूसरे का अपमान किया। मुझे यह उपहार नहीं चाहिए।

(तेजी से चली जाती है।)

मैं : सोचिए भला, इन छोटी-छोटी बातों में क्या रखा है। क्या कहूँ, किससे कहूँ ! दिल में इत्ती बातें घुमड़ती हैं कि बस पूछिए नहीं। अब तो पूरे आठ साल हो गए। दिल में एक गुब्बारा-सा उठता है और मुझे उड़ाए लिए चला जाता है। जी चाहता है उस गुब्बारे को फोड़ दूँ। मेरे पास ताकत है, साधन हैं-पर इनकी सहेली मिसेज आनन्द.....माफ कीजिएगा, वह मुझे भी बहुत पसंद है.....हाँ, वह कहती हैं-मुझमें हिम्मत नहीं है। (हँसना) अब देखिए न कमाल, ये औरतें कहती हैं, मुझमें हिम्मत नहीं है। सोचिए भला, बिना हिम्मत के इतनी कमाई हो सकती थी ? बेकार छोटी-छोटी बातों में फँसी रहती हैं। बड़ी बातें सोचनी चाहिए। स्वतंत्रता, लाभ.....इच्छा.....पुरुषार्थ, नहीं तो तरक्की कैसे होगी !

(स्वप्न जैसा संगीत फैलता है। श्रीमती आनन्द जैसे वायु में तैरती हुई आती हैं।)

श्रीमती आनन्द : स्वतंत्रता !

व्यक्तिगत लाभ !

इच्छाओं का पुरुषार्थ !

आखिर निजी जीवन क्या है !

मैं : अपने लाभ के अलावा और यहाँ क्या है ?

श्रीमती आनन्द : क्यों, निजी जीवन बिताने का अधिकार दूसरों के हाथों में देते जा रहे हो ? वे चारुताएँ-मानवीय गुण-प्रेम और दया लुप्त हो रही हैं। देवतुल्य तुम-हम रेवड़ के पशु बन रहे हैं.....नेचर

मैं : जो मुझे चाहिए, मैं उसे लेकर रहूँगा-यही तो पुरुषार्थ है।

श्रीमती आनन्द : किस लिए, बोलो।

ओह, अकेले हो !

आओ हाथ पकड़ो।

चलो साथ।

क्यों हो अकेले ?

आओ.....

(नृत्यवत गतियों में डोलती हुई चली जाती हैं।)

मैं : जो चीज मुझे पसन्द है-वह मेरी है। पसंद का संबंध इच्छा से है। इच्छा प्रकृति का गुण है। इच्छा को रोकना प्रकृति के उसूलों के खिलाफ है। इससे खामखा तनाव पैदा होता है और अनेक मानसिक समस्याओं के जाल में फँसना होता है। इससे मनुष्य का विकास रुक जाता है। मनुष्य अकेला है-मिसेज आनन्द इसे नहीं मानतीं, पर मैं मानता हूँ, यह मेरा निजी अनुभव है-क्योंकि मुझे अपनी समस्याओं का हल ढूँढना पड़ता है।

(वह आती है।)

वह : किससे बातें कर रहे हो ?

मैं : केवल तुम्हारा भ्रम है।

वह : ऐसा क्यों है ?

मैं : तुम्हारा स्वभाव.....तुम्हारी प्रकृति।.....नेचर

(वह हँसती है।)

मैं : बेमतलब की हँसी मुझे कतई पसन्द नहीं।

वह : चूँकि इससे कोई फायदा नहीं।

मैं : बहुत छोटी बातें करती हो, डियर।

वह : यह जिन्दगी छोटी-छोटी बातें से ही बनी है, माई डियर।

(दोनों टहलने लगते हैं।)

वह : इतना तेज क्यों चलते हो ?

मैं : हमें समय के साथ चलना पड़ता है।

वह : पहुँचना कहाँ है ?

(चलना)

वह : तुम हरदम जैसे परेशान रहते हो।

मैं : और तुम ?

वह : मुझे भी परेशान रहना पड़ता है।

(चलना)

मैं : मुझे आगे बढ़ना ही है, चाहे जैसे।

वह : सब कुछ मिलना ही चाहिए, चाहे जैसे।

मैं : सारी दुनिया इतनी तेजी से आगे बढ़ रही है।

(निकल जाता है।)

वह : आप तो जानते ही हैं, हर बात के दो पहलू होते हैं। जब पति अपने-आप को स्वतंत्र मानता है तो पत्नी उसे पुलिस इंस्पेक्टर, सी.आई.डी. का दरोगा लगने लगती है ; और पति उसे चोर, डाकू और उचक्का लगने लगता है।

अपनी पर्सनल बात बताऊँ। शादी से पहले मेरे दिल में सिर्फ एक पुरुष हुआ करता था—प्रेमी, साथी, जिसके साथ मैं जी सकूँ, विकास करती जाऊँ। लेकिन शादी हुई तो इनसे। फिर शादी के बाद मेरे दिल में उस पुरुष की जगह दो स्त्रियाँ आ बैठी—एक 'मैं' और दूसरी श्रीमती आनन्द। वह कहती हैं—'मैं' ना तो सम्पूर्ण है ना स्वतन्त्र। मुझे उनकी बात समझ में नहीं आती। पर इनकी बात तो और भी समझ में नहीं आती। यह क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यह मुझे बेहद चाहते हैं—पर क्यों, किस तरह चाहते हैं ? यह हर वक्त मुझे प्रभावित किए रहना चाहते हैं, पर क्यों ? पति-पत्नी के रिश्ते में इसकी क्या जरूरत ? यह मेरे लिए, ईमानदार है ; पर लगता है, जैसे हर समय कोई चीज मुझसे छिपा रहे रहें हैं। मुझसे इतनी चतुराई क्यों ? मेरी आदत है.....संस्कार है.....छोटी-छोटी चीजों को भी महत्व देती हूँ पर इनके लिए छोटी-मोटी चीजें कोई मायने नहीं रखतीं, पता नहीं इनकी नजर कहाँ से कहाँ दौड़ती रहती है।

उस दिन जैसे मेरे पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई, जब मुझे अनुभव हुआ, 'ये अपने लिए कुछ भी कर सकते हैं.....'

## पांचवा दृश्य

वह : कौन, अरे तुम, वहाँ इस तरह क्यों खड़े हो ?

(मैं का प्रवेश)

वह : तुम खुश हो या उदास, प्रसन्न हो या नाराज, यह पता पाना गैर—मुमकिन है।

मैं : तुम नाराज नहीं हो, यह मुझे पता है।

(बैठ जाता है, सिगरेट दागता है।)

वह : अरे, सिगरेट पीना कब से शुरू किया ?

(मैं चुप है।)

मैं : (मुस्काराता है।) तुम कितनी अच्छी हो.....'स्वीट.....चार्मिंग'।

वह : क्या करते हो ?

मैं : हाउ इन्नोसेंट, चाइल्ड लाइक यू आर ! हर चीज को जान लेना चाहती हो—यह अच्छी आदत नहीं है।.....आज बहुत अच्छी लग रही हो.....

वह : बात क्या है ?

मैं : यह लो अपना अप्वाइंटमेंट लेटर। तुम्हारे लिए एक फर्स्ट क्लास नौकरी।

वह : क्या ?

(विराम)

वह : (पढ़कर) यह है क्या ?

मैं : लेट अस सेलिबरेट इट।

(दौड़कर 'वह' को अंक में भर लेना चाहता है।)

वह : क्या करते हो ?

मैं : अब तो करना शुरू करूँगा। मैंने बैंक की नौकरी की तरह यह सरकारी नौकरी भी छोड़ दी। क्या रखा है कुल तेरह सौ रूपल्ली में। हूँअ।

(हँसने लगता है।)

वह : तो क्या वह सही है.....उस दिन वह तुम्हारा चपरासी आया था, रामप्रसाद—किसी फाइल के गुम होने और चार्जशीट की बात कर रहा था।

मैं : चारों ओर बेईमानी.....'करप्शन'।

वह : ओहो, अपनी बात करो।

(विराम)

मैं : ऐसी सड़ी नौकरी को मैंने लात मार दी। अब मैं 'बिजनेस' करूँगा। क्या रखा है नौकरी में !

वह : बिजनेस के लिए पूँजी ?

मैं : 'गुडविल' हो तो पूँजी की क्या कमी ! असली चीज इच्छा है। क्या होते हैं पचास-साठ हजार रूपये इन दिनों। इतनी रकम एक दिन में मिस्टर मल्होत्रा जुए में हार जाते हैं, किसी पार्टी को एकमुश्त चंदा दे देते हैं। मिस्टर मल्होत्रा मेरे दोस्त थे। उनकी फाइल गुम करके.....लोग मुझसे जलते थे। अच्छा हुआ, इसी बहाने इस नौकरी से.....। मैंने देख लिया—सबसे बड़ी ताकत है पैसा। इसी तरह मिस्टर मल्होत्रा भी नौकरी से अलग हुए थे। अब वही ठाट से इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का बिजनेस करते हैं और पोलिटिकल पार्टियों को 'ब्लैक मनी' के चंदे देते हैं। क्या ही शानदान बंगला है ! क्या इज्जत है उनकी ! उनकी पहुँच आज कहाँ नहीं है ?

वह : अपने आसपास कोई और दूसरा उदाहरण नहीं मिला ?

मैं : यही चारों ओर है।

वह : चुप रहो।

(विराम)

मैं : रोज अखबार नहीं देखतीं, कैसी-कैसी बातों, घटनाओं से भरा रहता है।

वह : ऐसा क्यों ?

मैं : हमारी हुकूमत ऐसी है।

वह : ऐसे तुम नहीं हो ?

(सन्नाटा)

मैं : लोग इसका विरोध भी नहीं करते।

वह : लोग मानें ?

मैं : लोग माने लोग.....पीपल।

(वह हंसना शुरू करती है।)

इस मुल्क में क्रांति होनी चाहिए।

वह : नाऊ यू आर ए बिजनेसमैन।

मैं : पर यहाँ हो कुछ और रहा है।

वह : हम कुछ और नहीं हो रहे हैं ?

(हँसती है।)

## छठा दृश्य

(मैं अखबार पढ़ रहा है। वह चाय लिए आती है।)

वह : देखो, चाय फिर ठण्डी हो जाएगी।

मैं : (अखबार पढ़ रहा है।)

वह : यह तीसरी बार चाय बना रही हूँ।

(टेलीफोन की घण्टी बजी है।)

मैं : (उठाता है।) हैलो। यस प्लीज। अरे, नौकरी तो तभी छोड़ दी। जी हॉ, बिजनेस शुरू कर दी है। शुरू-शुरू में तो आप जानते ही हैं। भई, हमें तो सारी चीजों के बारे में पता है। जी ? नहीं-नहीं। अगले इतवार को मैं हांगकांग जा रहा हूँ। फिर टोकियो होते हुए न्यूयार्क। जी.....जी हॉ। जी ? होल्ड-आन (अलग) देखो, मेरी डायरी लाना। जल्दी करो। क्या करती हो ? तेजी लाओ। बी स्मार्ट।

वह : चाय तो खत्म कर लूँ।

मैं : इत्ता वक्त कहाँ है ? समझती क्यों नहीं ?

(वह जाती है।)

मैं : (फोन पर) हैलो ! जी हॉ ! ओह हॉ, मेरी प्राइवेट सेक्रेटरी डायरी लेने गई है। जी हॉ, दफ्तर बनाऊँगा। अभी यहीं बंगले से ही। जी.....जी। एक रिसेप्शनिस्ट है, एक प्राइवेट सेक्रेटरी.....जी।

(इस बीच वह आ गई है।)

मैं : (अलग से) जल्दी करो, खड़ी क्या हो ! (डायरी देखकर) यस प्लीज, नोट कीजिए, अगले महीने की तेरह तारीख को आपसे मुलाकात लंदन में हो सकती है। क्या ? आज ? वक्त तो नहीं है, कोशिश करूँगा। जी.....जी, वादा नहीं कर सकता..... देखिए, इन्तजार बिल्कुल मत कीजिएगा।

(फोन रखता है।)

मैं : पता है, यह कौन आदमी था ? के.के. कपूरिया, मुझे फाइनेंस करना चाहता है-मतलब ब्लैक को व्हाइट करना चाहता है।

वह : अब चाय के बारे में क्या ख्याल है ?

मैं : चाय गर्म होनी चाहिए और तुम्हारे हाथ की (पीता है।) वाह ! कितनी अच्छी चाय बनाती हो !

(चाय चलती है।)

मैं : तुम कुछ उदास रहने लगी हो। क्या बात है ? बोलतीं क्यों नहीं ?.....दरअसल तुम बीती हुई बातों को भूल नहीं पातीं। यह क्या आदत है ! मेरा निजी विचार है.....

वह : यह निजी विचार क्या चीज है ?

मैं : चाय के साथ कुछ नमकीन चीज होनी चाहिए।

(मैं लेने जाता है।)

वह : निजी विचार है ! (हँसती है।) जब कोई अपना विश्वास ही न हो, चरित्र ही न हो तो निजी विचार क्या हो सकता है। एक बात और भी तो है-हमें बचपन से ही यह महसूस होता रहता है कि हमारे निजी विचारों और कामों का महत्व नहीं। इसलिए हम दूसरों के काम करते हैं-औरों की जिन्दगी ओढ़ते चले जाते हैं। पता ही नहीं चल पता, कौन क्या था.....कौन क्या है ?

(मैं आता है।)

मैं : नमकीन कहाँ है, पप्पू की माँ ?



वह : अच्छा, तो अब मैं पप्पू की माँ हूँ ?

मैं : माँ ही तो असली रूप है स्त्री का।

वह : किसी के लिए मैं तुम्हारी प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ, किसी के लिए 'रिसेप्शनिस्ट', किसी के लिए फ्रेंड.....

मैं : किसी के लिए नहीं, मेरे लिए एक ही में अनेक हो—मेरी प्रिया, मेरी सुन्दरी, साथी, मेरी इंटेलैक्युअल, मेरी धर्मपत्नी, खिलाड़ी, मेरे साथ युद्ध करने वाली वीर सेनानी और.....और.....देखो, अब खुश हो जाओ।

वह : मतलब यह कि इस वक्त मैं आपके लिए नमकीन बन जाऊँ ?

(जाती है।)

मैं : मैंने शुरू से ही सोच रखा था कि मेरी पत्नी ऐसी हो, जिसमें इतने गुण हों कि पति घर में आकर अपनी बाहर की दुनिया भूल सके—मसलन वह अच्छा भोजन, चाय बनाए। बच्चों की आदर्श माँ। पति की बेहतरीन पत्नी। वह इंटेलैक्युअल हो, पर सीधी और नेक भी हो.....वह.....वह पार्टनर भी हो और.....

(नमकीन ले आती है।)

मैं : देखो.....देखो। प्लीज इस वक्त अपने चेहरे पर से उदासी का भाव हटाकर माँ का भाव ले आओ—प्लीज, यह मेरी इच्छा है।

वह : 'मेरी इच्छा !'

मैं : मजाक कर रही हो न ?

वह : वाह—वाह ! मेरी पत्नी में कितना 'सेंस आफ ह्यूमर' है।

(हँसता है।)

वह : (सहसा) पिंकी—पप्पू स्कूल चले गये हैं। चिक्की को दूध पिलाकर सुला दिया। यह लो अपने ब्लडप्रेसर की दवा। चाय के साथ घूँट लो।

मैं : अरे.....रे रे.....यह क्या ?

वह : इस वक्त मैं बच्चों की आदर्श माँ और पति की बेहतरीन धर्मपत्नी हूँ।

मैं : ओह !

(दवा पीता है।)

मैं : बहुत दिन हुए, चाय पीते हुए, हमारे बीच कोई इंटेलैक्युअल टाक नहीं हो सकी।

(चाय)

वह : आप सचमुच महान हैं।

मैं : भई, समाज में अपनी 'इमेज' बनानी पड़ती है।

वह : लेकिन पत्नी के सामने 'इमेज' बनाने की क्या जरूरत ?

मैं : लेकिन मैंने ऐसा कब किया ? मैं तो जो हूँ.....हूँ।

वह : तुम जो हो, वह नहीं हो।

मैं : तुम हो ?

वह : नहीं।

(सन्नाटा)

मैं : देखो, बड़ी मुश्किल से तुम्हारा मूड ठीक हुआ। हम कोई और बात करें.....बेहतर है चुपचाप चाय पिएँ।

वह : क्या फर्क पड़ता है !

मैं : ना भाई, मूड पर तो असर पड़ता है।

वह : पत्नी की 'स्विच' पति के हाथ में है, वह जो मूड चाहे, बटन दबा दे.....

मैं : तुम जरूरत से ज्यादा सीरियस हो जाती है।

वह : आपकी क्या इच्छा है ?

मैं : मेरी इच्छा, कमाल है !

वह : सब कुछ यहाँ तुम्हारी ही इच्छा है। तुम्हारा ही स्वार्थ। तुम कब क्या कर डालो.....कब किस वक्त मुझसे क्या माँग बैठो.....

किस वक्त मुझे क्या बन जाना पड़े।

मैं : देखो, तुम फिर वही बातें करने लगीं।

वह : नहीं, ये आम बातें हैं, बिलकुल नानसेंस.....बे-मतलब।

मैं : सुनो-सुनो, हम सिर्फ इन्टेलिक्चुअल टाक कर रहे हैं न ?

वह : और क्या कर सकते हैं ?

(विराम)

मैं : चलो, हम कोई और बात करें।

वह : मिसेज आनन्द.....

मैं : नहीं-नहीं, मिसेज आनन्द नहीं, मिसेज मलहोत्रा। देखो न, कितनी ब्लैकमनी भरी पड़ी है मिसेज मलहोत्रा के घर।

वह : रूक क्यों गए ? बकते जाओ न, इसका भी कोई अंत है।

मैं : हमारी हुकूमत ही ऐसी है.....

वह : हॉ-हॉ, ठीक है, चलेगा।

मैं : क्या चलेगा ?

(मेज पर मुक्का मारता है)

वह : इससे बेहतर हुकूमत हमें नहीं चाहिए.....वी डॉट डिजर्व !

मैं : सारा दोष राजनीति का है।

वह : हर्गिज नहीं। जैसा हमारा जीवन होगा, वैसी ही राजनीति होगी।

मैं : यह गलत है।

वह : हम वही हैं।

(मुक्का मारती है-मैं की उँगली पर चोट लग जाती है।)

मैं : ओह मेरी उँगली।.....मेरा.....आह। हाय ! (सहसा) अरे, साढ़े आठ बजे गए। कमाल है, तुमने बताया क्यों नहीं। एक बहुत जरूरी एपाइंटमेंट था। मेरा रूमाल कहाँ है ? यहाँ का रूमाल, यहाँ का !

वह : मुझे क्या पता ।

मैं : तुम्हें पता होना चाहिए, इसी टाई के साथ का रूमाल था ।

वह : और दूसरा ले लो न ।

मैं : और के मतलब भी जानती हो ? दूसरी टाई पहननी होगी । पूरा सूट बदलना होगा । इसके लिए वक्त कहाँ है ? जल्दी करो । मुझे वही रूमाल चाहिए.....सिर्फ वही ।

वह : चीखो नहीं ।

मैं : बिना उस रूमाल के । तुम समझतीं नहीं.....

(चला जाता है । आलाप संगीत उभर जाता है ।)

### सातवां दृश्य

(वह घर से दफ्तर जाने के लिए निकलती है ।)

वह : बड़े आराम से अभी नौ-बीस वाली बस मुझे मिल जाएगी । यह कैसी अजीब बात है.....उन्होंने मेरे हाथ में न जाने कहाँ से एकाएक एपांटमेंट लेटर थमा दिया और मैं चुपचाप नौकरी पर चली गई । कहीं पढ़ा था, आर्थिक स्वतंत्रता ही बुनियादी स्वतंत्रता है । पर कहाँ है वह स्वतंत्रता ? हमारा रहन-सहन, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, हमारी सारी आदतें उस भूखे गुलाम जैसी हैं जिसे कभी संतोष नहीं होता । हर चीज में नकल, हर काम में दिखावा । फिर क्या मतलब है इस स्वतंत्रता का ? मिसेज आनन्द कहती हैं—स्वतंत्रता नहीं, मुक्ति । अब जाना होगा, नौ बजकर दस मिनट हो गए ।

(जाने लगती है ।)

मैं : (प्रवेश कर) सुनो, दस रूपये का एक नोट होगा ? मेरे पास सिर्फ सौ-सौ के ही नोट हैं ।

वह : मेरे पास कुल दो रूपये हैं ।

मैं : कितनी मँहगाई है !

वह : हमारी आदत है ।

मैं : जूड़े में एक फूल लगा लो । ऐसे दफ्तर नहीं जाते । अब देखो मुझे ।.....सचमुच तुम देवी हो ।

वह : तुम अपने-आपको देवता साबित करना चाहते हो !

मैं : अगर मैं देवता नहीं, तो तुम भी देवी नहीं ।

(जाने लगती है ।)

वह : अच्छा जो टूटे हों, वही दे दो ।

(पर्स से निकालकर एक नोट देने लगती है, मैं वह का हाथ थाम लेता है ।)

मैं : देखों डियर, खुश रहा करो । क्या रखा है बड़ी-बड़ी बातों में ! बी प्रैक्टिकल ।

वह : छोड़ो भी, मेरी बस छूट जाएगी ।

मैं : प्लीज, एक गाना सुना दो। कित्ता अच्छा गाती हो !

वह : क्या करते हो !

मैं : नहीं, मेरी इच्छा है।

वह : छोड़ो भी।

मैं : अच्छा एक चुम्बू दे दो।

वह : कमाल है।

(रास्ता रोक कर)

मैं : मैं तुम्हारा पति हूँ।

वह : मुझे देरी हो रही है।

मैं : मैं अपनी गाड़ी से छोड़ आऊँगा।

वह : मेरा कतई मन नहीं है।

मैं : अजीब बात है, अभी तक तुम मन की दुनिया में रहती हो ! यह मन क्या होता है ?

वह : मेरा मन।

मैं : और मेरा ?

वह : पता नहीं।

मैं : तुम्हें पता है, जो मैं चाहता हूँ, उसे ले के रहता हूँ।

वह : कभी आईने में अपना चेहरा देखो न, कितने बदशक्ल लगते हो।

मैं : अपने-आप को बहुत खूबसूरत समझती हो न !

वह : तुमसे कहीं ज्यादा बदशक्ल।

(मैं हँस पड़ता है।)

मैं : देखो डियर, इन बातों से क्या फायदा ?

वह : लो, ले लो।

मैं : इत्ते गुस्से में ! ना, थोड़ा मीठा कर लो।

(चुपचाप खड़ी है। मैं उसे प्यार करता है। एकाएक मैं घड़ी देखता है।)

मैं : ओहो, मेरा एक एपाइंटमेंट।

(भागता है।)

वह : यह सब क्या है ? कहीं गई मेरी सारी पढ़ाई, मेरे सारे संस्कार, मेरा संगीत ?

(मैं वापस आता है।)

मैं : देखो जूतों में पालिश नहीं है। कैसे जा सकता हूँ मैं ? निकाल बाहर करो सारे नौकरों को। नमकहराम.....कामचोर !

वह : इतना गुस्सा ! और किस पर ?

मैं : तुम जानती हो, मैं ऐसे जूते पहनकर बाहर नहीं जा सकता। तुम्हें पता नहीं, इसका क्या असर पड़ता है।

वह : पता है, तुम्हारा क्या असर मुझ पर पड़ा है ? और अपने आसपास के लोगों पर हमने क्या असर डाला है ? (मैं के जूते अपने रूमाल से साफ करती हुई) हम जितने साफ-सुथरे बनने की कोशिश कर रहे हैं, अपने चारों ओर उतनी ही गंदगी फैला रहे हैं।

(इस बीच मैं कोई जरूरी कागज पढ़ रहा था।)

मैं : थैक्यू वेरी मच।

(तेजी से चला जाता है।)

वह : मैं ऐसी क्यों होती जा रही हूँ ? कहाँ गई मेरी अस्मिता ! वह संगीत कहाँ है ? कैसी-कैसी इच्छाएँ भी तो हैं। मैं शांति भी चाहती हूँ और विद्राह भी। मतलब शादी और नौकरी दोनों।

(अजीब तरह से हँस पड़ती है।)

उनका मन और मेरा मन। उनका मन सिर्फ उनका मैं है। और मेरा मैं ? और मेरे बच्चे, मेरा पति, मेरा घर ? पर मिसेज आनन्द कहती हैं-‘मैं’ और ‘मेरा’ में सिर्फ व्याकरण का फर्क है। आह, वह कितना अच्छा गाती हैं-

(गा पड़ती हैं।)

झर लगी महलिया

गगन घहराय।

सुन्न महल में अमरित बरसै

मगन मन साधू नहाय।

झर लगी महलिया.....

खन गरजै खन विजुरी चमकै

लहर उठें शोभा बरनि न जाय।

झर लगी महलिया

गगन घहराय.....

(संगीत छा जाता है।)

## आठवां दृश्य

(मैं बाहर से लौटता है।)

मैं : (इधर-उधर देखकर) अब तक दफ्तर से नहीं लौटीं ! कितनी बार कहा, यह नौकरी छोड़ दो। अपना ही बिजनेस देखो। अब बताइए भला, मैं कहाँ-कहाँ कित्ते काम करके थका-मौंदा घर लौटा हूँ-उन्हें मेरे सामने होना चाहिए-पत्नी का मुस्कराता हुआ चेहरा। दिनभर न जाने क्या-क्या देखकर जी ऊब जाता है।

(वह आती है।)

मैं : हैलो, बड़ी देर कर दी। आज का दिन बहुत बुरा रहा।

(वह थकी हुई है। देखकर रह जाती है।)

मैं : वह लाइसेंस वाला काम नहीं बना। मिस्टर मलहोत्रा ही आड़े हाथ आ गए। उन्होंने मुझसे ज्यादा चंदा दे दिया। बिजनेस में कोई किसी का दोस्त नहीं। आज इनकम टैक्स कमिश्नर ने भी सीधे मुँह बात नहीं की। उल्टा-सीधा बकने लगा। उसने कहा-यू पीपुल आर करप्ट।

वह : उसने पीपुल को 'करप्ट' कहा, तुम क्यों परेशान हो।

मैं : उसकी यह हिम्मत ! मैं भी सरकारी नौकर-गजेटेड अफसर रहा हूँ। मेरे पिता भी किसी पोलिटिकल पार्टी में इम्पार्टेंट आदमी हैं। मैं कोई मामूली राम नहीं।

वह : आज तुम परेशान हो।

मैं : जी करता है.....

वह : छोड़ो, चलो चाय पिएँ।

मैं : उसने 'रेड' करने की धमकी दी। मिस्टर मलहोत्रा, मिस्टर जैन, मिस्टर माथुर, श्री खन्ना के यहाँ तो कभी रेड नहीं हुआ। वजह मैं जानता हूँ-वही मैं भी करूँगा, फिर कहुँगा-आदाब अर्ज।

वह : तुम इन्हीं लोगों से अपनी तुलना क्यों करते हो ? मिस्टर आनन्द को देखो।

मैं : क्या रखा है मिस्टर आनन्द में ? वही आइडियलिज्म, ख्याली पुलाव.....कुछ नहीं है वह-नथिंग।

वह : .....तुम्हारे लिए। अपने-आप में वह हैं।

मैं : क्या हैं ?

वह : वही जो वह हैं।

मैं : वकवास।

(सन्नाटा)

मैं : सुनो। इनकम टैक्स कमिश्नर के घर तुम्हारा संगीत हो जाए, कैसा रहेगा ? कोई बढ़िया-सा बहाना बना लेंगे। सिर्फ संगीत ही उसकी कमजोरी है।

वह : मेरा सिरदर्द कर रहा है।

मैं : चलो, चाय पीते हैं, सब ठीक हो जाएगा। (सहसा) हॉ, यह तो बताना भूल ही गया—आज रात को खोसला के यहाँ डिनर पर जाना है। और इसी शनिवार को मैं ताजमहल होटल में काकटेल डिनर दे रहा हूँ—यह देखो वी. आई. पीज की लिस्ट।

(वह देखती है।)

मैं : जब सब लोग यही करते हैं तो मैं क्यों न करूँ !

(वह नकारने का सिर हिलाकर जाने लगती है।)

मैं : खैर, तुम्हारे एग्री करने ना करने से कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं तमाम ऐसे काम करता हूँ, जिनसे मैं खुद एग्री नहीं करता।

वह : चाय नहीं पियोगे आज ?

मैं : आज चाय नहीं, ड्रिंक्स।

वह : ड्रिंक्स तुम्हारे लिए जहर है—ब्लड, शुगर.....पेप्टिक अलसर।

मैं : चुप रहो।

वह : आज तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है, आराम करो।

मैं : मेरी तबियत बिलकुल ठीक है। हमें थोड़ी ही देर में डिनर पर जाना है। जाओ, तैयार हो—इतनी खूबसूरत हो जाओ कि मेरा जी बहल जाए।

वह : आओ तब तक बच्चों के संग बैठ जाओ। जी बिलकुल हल्का हो जाएगा। मैं भी बच्चों को बिलकुल भी वक्त नहीं दे पाती।

मैं : वक्त बरबाद नहीं करो। बच्चों के लिए नौकर हैं, आया है।

वह : पर हम कहाँ है ?

मैं : फिर वही बेमतलब की बातें—हमारी अपनी जिन्दगी है, बच्चों की जिन्दगी अलग है।

वह : अपने बच्चों से ही हम दूसरों से जुड़ने का संस्कार पाते हैं।

(जाती है।)

मैं : जैसे मैं एक व्यक्ति हूँ, वैसे ही मेरे बच्चे भी अलग—अलग व्यक्ति हैं। अगर वे व्यक्ति नहीं होंगे तो उनका अपना व्यक्तित्व कहाँ से आएगा ? सबको अपनी—अपनी लड़ाई अकेले ही लड़नी है। मगर यह कहती हैं—व्यक्ति है, तभी तो लड़ाई है, तभी तो वह अकेला है। यह आदर्शों की बात करती हैं—मनुष्य व्यक्ति नहीं, समाज का अंग है, वह मालिक नहीं, हिस्सेदार है, वगैरह—वगैरह। जो उपदेशक हैं, जो लेखक लोग हैं, वे ऐसी बातें करें—क्योंकि उन्हें और कुछ करना नहीं रहता। पर मुझसे ऐसी बातें मेरी पत्नी करे, हर बात में मुझसे डिसएग्री करे, बताइए इसका उपाय क्या है ? मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि हमें मरना नहीं, जीना है। उल्टे वह यह कहती हैं—यह भी कोई जीना है ! बताइए भला, और जीना किसे कहते हैं। मैं कहता हूँ—मैं जी रहा हूँ। मैंने इतनी तरक्की की और अभी तरक्की करूँगा क्योंकि यह मेरी इच्छा है। क्या मैं अपनी वाइफ के संग नहीं जी रहा हूँ ? मैं इन्हें कितने रूपों में देखता हूँ। एक में अनेक स्त्रियाँ। माफ कीजिएगा, मैं एक बड़ी पर्सनल बात कर रहा हूँ—सिर्फ एक ही स्त्री से जिन्दगी नहीं कट सकती.....क्योंकि मनुष्य प्रकृति से पोलिगेमस है—बहुस्त्रीवादी। मगर वह इधर तमाम आर्थिक और सामाजिक दबावों से मजबूर होकर मनोगेमस—एक पत्नी वाला बनकर रहने लगा है।.....

मैं अपनी पत्नी को जो इतने विविध रूपों में देखता हूँ न, वह इसीलिए कि मेरे पुरुष-रक्त में जो पोलीगेमी के कीटाणु हैं उन्हें शांत कर सकूँ और इनके साथ जिन्दगी जी सकूँ.....

(वह नये मेकअप में पकौड़ी लिए आती है।)

मैं : वाह, कितनी हसीन लग रही हो !

(दोनों बैठते हैं।)

मैं : पत्नी के हाथ की बनी हुई पकौड़ी भी क्या चीज है।

वह : तुम्हारी तबियत अब ठीक हो रही है।

मैं : अरे, मिरच की पकौड़ी !

वह : तुम्हें 'वेरायटी' पसंद है न !

मैं : देखो, अब हमें अपने मूड की रक्षा करनी है, बड़े ही खास डिनर पर जाना है।

वह : मूड की रक्षा डिनर के लिए.....

मैं : अपने लिए।

वह : पर जिसके लिए यह सारी रक्षा हो रही है, वह मर नहीं रहा है ?

मैं : ओहो, बड़ी तेज मिरच है।

वह : डरते हो, पूरी खाओ न।

(हिम्मत दिखाने के लिए डरते-डरते खाना। मिरच लग जाती है, पर बातें से छिपाना चाहता है।)

मैं : पकौड़ी के साथ चाय अच्छी लगती है। दरअसल, मिरच की पकौड़ी के साथ ड्रिंक्स होनी चाहिए।.....तुम कहती हो हमारे जीवन में निजी बातें नहीं हैं.....

(भीतर भागता है। वह हँस पड़ती है।)

वह : पकौड़ी के साथ चाय अच्छी लगती है, जैसे नौकरी के साथ शादी। पर संगीत में जो मेरी इतनी दिलचस्पी थी वह कहाँ गई ? मुझे भी क्या हो गया ? मेरा सारा विद्रोह, वे सारी विशेषतायें कहाँ चली गई ? मैं इतनी चीजें एकसाथ क्यों चाहती हूँ ? जैसे वह मुझे कितने टुकड़ों में बाँट कर देखते हैं। (सहसा) यहाँ की सारी चीजें बिखरी-बिखरी क्यों हैं ? यहाँ की सारी चीजें मैंने सजाई थीं। एक-एक चीज अपने हाथों से। यह संस्कार मुझे माँ से मिला था। कितनी धूल जम आई है यहाँ ! हवा में यह उड़ क्या रहा है ? यह क्या चीज है (पकड़ना चाहती है।) कुछ पकड़ में नहीं आता। (फिर प्रयास) कुछ भी नहीं।

मैं : यह क्या कर रही थीं ?

वह : खेल।.....ले लो.....धर दबाओ.....हथिया लो.....लूट लो.....मार दो।

मैं : यह देखो, मेरे मुँह में छाले पड़ गए।

वह : पेट की गर्मी.....

मैं : नहीं, मिरच की पकौड़ी।

वह : जो मैं कहती हूँ.....



मैं : मैं सच कहता हूँ—सिर्फ वही तेज मिरच.....यह देखो जबान की नोक पर.....मजा भी आ रहा है।

वह : एक और खा लो।

मैं : नहीं, अब थोड़ी देर तुम्हारे संग खेल करेंगे।

वह : नहीं, बिलकुल नहीं।

मैं : मेरा जी बिलकुल हल्का हो जाएगा।

वह : डिनर के लिए देरी नहीं होगी ?

मैं : वह सब कुछ भूल जाऊँगा।

वह : यह सब क्या करते हो ?

मैं : फिर ट्रिंक्स लूँगा।

वह : नहीं।

मैं : देखो या तो खेल खेलो या.....

(वह जाती है।)

मैं : सुनो, आज वही पुराना खेल खेलेंगे। हाइड एण्ड सीक। अक्कड़ बक्कड़ बंबे बौ.....

(वह कपड़ा लिए लौटती है।)

मैं : चलो, खेल शुरू। पहले चोर कौन बनेगा ?

वह : तुम। इसमें बनने की क्या जरूरत !

मैं : चलो, चुनाव कर लेते हैं।

वह : क्या यह मुमकिन है ?

मैं : रेडी ! अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बौ

अस्सी नब्बे पूरे सौ

सौ में लागा धागा

चोर निकलकर भागा। तुम.....

मैं : कौन है ?

आवाज : मैं हूँ।

मैं : क्या ?

आवाज : बाहर आ जाइए।

मैं : क्या बत्तमीजी है। इधर कौन—कैसे आ गया ?

(दरवाजा खोलता है।)

मैं : कौन हो तुम ? यहाँ क्यों आए ?

आवाज : पहले किस सवाल का जवाब दूँ ?

मैं : (पुकारता है) चौकीदार.....दरबान, चलो इधर !

आवाज : यहाँ कोई आ नहीं सकता।

मैं : बात क्या है ? मेरे पास वक्त नहीं है। क्या ?

(सन्नाटा)

मैं : (लौटता है।) अजीब बात है.....

वह : कौन है ?

मैं : शी.....दादा.....

वह : क्या ?

मैं : गुंडा। रूपये लेने आया है—प्रोटेक्शन फी।

वह : पुलिस को टेलीफोन करो।

मैं : शी.....दे देते हैं.....कंपनी के खर्चे में.....

वह : यह क्या करते हो ?

मैं : वह हमारी रक्षा करता है।

वह : हम अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते ? तुम इतने कायर हो गए.....

(सन्नाटा। दरवाजे पर तेज दस्तक। वह दरवाजे पर बढ़ती है। मैं उसे रोकता है। संघर्ष। मैं उसे रूपये निकालकर देता है।)

मैं : जाओ। अब क्यों खड़े हो ?

आवाज : खबरदार, पुलिस को अगर खबर दी।

(सन्नाटा)

मैं : तो क्या हुआ.....कंपनी के किसी खाते में डलवा दूँगा। क्या करता ? उस गुंडे के मुँह लगता ? क्यों मूड खराब कर रही हो बेमतल ?

वह : हमारी रक्षा अब गुंडे करेंगे ?

मैं : देखो हमारे पास वक्त नहीं है।

वह : मैं अब यहाँ नहीं रह सकती। यहाँ सुरक्षित नहीं हूँ.....न भीतर.....न बाहर।

मैं : अब वह यहाँ नहीं आएगा।

वह : तुम जो यहाँ हो।

मैं : क्या ? (विराम) सुनो। खामखा सारा मूड चौपट मत करो। सारा दिन आज इसी तरह बीता है।

वह : अब सारा जीवन इसी तरह बीतेगा।

मैं : कोई उपाय करूँगा।

वह : तुम कायर हो।

(विराम)

मैं : सब ठीक हो जाएगा। सबके उपाय हैं। छोड़ो भी। चलो खेलते हैं।

वह : चुप रहो ।

मैं : देखो, हमने खेल शुरू किया था, हम उसे अधूरा नहीं छोड़ सकते ।

वह : वह खेल क्या पूरा हो गया, जो अभी इस दरवाजे पर हुआ है ?.....और वह खेल जो तुम मलहोत्रा से खेल रहे हो.....  
कपूरिया के संग खेल.....और.....

मैं : मैंने कहा न, सारा खेल पूरा करूँगा.....और.....छोड़ो भी प्लीज.....लेट अस इंज्वाय !

‘अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बो

अस्सी नब्बे पूरे सौ

सौ में लागा धागा

चोर निकलकर भागा.....तुम ।’

वह : चुनाव नहीं, बेईमानी है.....डाकाजनी !

‘अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बो

अस्सी नब्बे पूरे सौ

सौ में लागा धागा

चोर निकलकर भागा.....तुम ।’

मैं : नो, लेडीज फर्स्ट ।

वह : क्या ?

मैं : परम्परा है, तहजीब है ।

(इस बीच मैं ने वह की आँखों पर पट्टी बँध दी है ।)

मैं : अब कोई डर नहीं । चलो ढूँढो मुझे । छुओ.....

(वह ढूँढती हुई घूना चाहती है ।)

वह : आँखों में पट्टी बँधते ही सारा कुछ कितना रहस्यमय लगने लगता है । हर चीज का अर्थ ही बदल जाता है ।

मैं : देखो.....देखो.....इधर टेबुल है.....मैं इधर हूँ ।

वह : पर लगता है तुम इधर हो । तुम्हारी बातों का क्या यकीन !

(सहसा टेबुल से टकराती है । टेबुल पर रखा आईना गिरकर टूट जाता है ।)

ओहो ! कुछ गिरकर टूट गया ? बोलते क्यों नहीं ? क्या टूटा ? यहाँ किसने रखा ? क्या था ?

मैं : आईना !

वह : देख रही हूँ, एक संपूर्ण दर्पण था, जो टूट कर असंख्य टुकड़ों में बिखर गया ।.....अब उसके हर टुकड़े में वही मैं दिखता है  
और अपने-आपको संपूर्ण कहता है.....मैं धर्मपत्नी, वाइफ, पार्टनर, नौकर, माँ, इंटेलेक्चुअल.....खिलौना.....वाइफ आफ ए  
पोलीगेमस.....एक सम्पूर्ण दर्पण था.....जो टूटकर अनगिनत.....तरह-तरह के टुकड़ों में बिखर गया.....

मैं : उधर कहाँ ढूँढ रही हो ? मैं यहाँ हूँ ।

वह : सिर्फ कहने को.....

मैं : मेरी आवाज नहीं सुन रहीं ? आवाज बदल गयी है क्या ?

वह : हाँ, सिर्फ आवाज ही तो बदल जाती है। इसके अलावा हमारी जिन्दगी में कुछ नया घटता ही नहीं। और अगर कुछ नया घटता है तो बस, दूसरों की जिन्दगी में। और हम उन्हीं की बातें करते रहते हैं। तभी हमें चमत्कार में विश्वास आने लगा है, हर पाखंड हमें धर्म लगने लगा है।

मैं : मैं यहाँ हूँ।

वह : जब आँखें बन्द हों तो हम सिर्फ सुनते हैं और विश्वास करते हैं।

(ढूँढ़ती है।)

वह : चारों ओर इतना सन्नाटा क्यों है ? लोग गए कहाँ ? तुम कहाँ हो ? ऐसा क्या हो गया ? बोलो, मेरा दम घुट रहा है।

मैं : जब परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदल रही हों, तो मनुष्य क्या करे ?

वह : कहीं कुछ भी नहीं दीखता। इस शून्य में मेरा दम घुट रहा है। मेरे कानों में चमगादड़ों की आवाजें आ रही हैं।

मैं : आओ.....छू लो.....मैं इधर हूँ।

वह : मेरे पैरों में कांच के टुकड़े गड़ रहे हैं। जैसे चारों ओर मकड़ी जाले बुन रही है। देखो, हाथों में क्या उलझता जा रहा है, फंगस जैसा कुछ.....

मैं : छुओ न, देर हो रही है।

वह : अब मजे लो न। लेट अस इज्वाय। यह अंधा खेल तुम्हारा ही तो मनोरंजन है—जहाँ सिर्फ हाथों से टटोलना पड़ता है। कहाँ हो ?

मैं : यहाँ.....इधर.....।

वह : हर वक्त इधर से उधर खिसकते रहते हो।

मैं : सच, बड़ा मजा आ रहा है।

वह : कितनी फिसलन है यहाँ !

मैं : तभी तो इत्ता मिजा आ रहा है।.....मेरी इच्छाएँ !

वह : अमानव।

मैं : मेरे उद्देश्य !

वह : अनैतिक।

मैं : फैंटास्टिक ! (हँसता है।)

वह : बन्द करो यह हँसी। बन्द करो।.....आह, मुझसे चला नहीं जा रहा.....

मैं : मैं बिल्कुल तुम्हारे पास हूँ। हाथ फैलाओ।

वह : यह क्या हुआ मुझे ?

(वह लड़खड़ाती है, मैं उसे संभालता है।)

मैं : (पट्टी खोलता है) आई एम सारी ! रहने दो यह खेल।

वह : तुम कोई काम अधूरा नहीं छोड़ते न !

मैं : हमें डिनर पर जाना है।

वह : इस खेल में सचमुच एक नशा है।

(इस बीच वह, मैं की आँखों पर पट्टी बाँधकर अदृश्य हो जाती है।)

मैं : (टटोलता है।) कहाँ हो ? अरे, कुछ बोलती क्यों नहीं ? कुछ बोलो, तभी तो मैं तुम्हें पकड़ पाऊँगा। देखो यह फाउल है—गलत बात। कहाँ हो ? (सहसा) यह किसके चलने की आवाज आ रही है ? लगता है—मिसेज आनन्द हैं। हैलो !

(श्रीमती आनन्द प्रकट होती हैं।)

श्रीमती आनन्द : हैलो !

( मैं पट्टी हटाने लगता है।)

श्रीमती आनन्द : नहीं—नहीं, इसी तरह। चलो छुओ मुझे।

मैं : कित्ता अच्छा लग रहा है !

श्रीमती आनन्द : क्या ?

मैं : ढूँढ़ना.....आपको छूने में जो मजा है.....

श्रीमती आनन्द : मैं क्या हूँ ?

मैं : दूसरी स्त्री।

श्रीमती आनन्द : दूसरे की चीज अच्छी लगती है ?

मैं : बहुत.....बहुत अच्छी।

(वह टटोल रहा है।)

श्रीमती आनन्द : 'बन लेने दो मुझे अमानव

जब तक हैं इच्छायें मेरी,

बन लूँगा फिर से मानव

जब इच्छायें होंगी पूरी।

हो जाने दो मुझे अनैतिक

जब तक हों उद्देश्य न पूरे

नैतिक हो जाऊँगा फिर मैं

जब न रहेंगे स्पष्ट अधूरे।'

मैं : आप इस तरह चुप क्यों है ?

श्रीमती आनन्द : आप सुन रहे ?

मैं : इत्ता वक्त कहाँ है ?

श्रीमती आनन्द : इस खेल में कौन—सा गुण है ? यह कैसी आदतों का मनोरंजन है ?

मैं : क्या इस खेल में कोई गुण नहीं ?

श्रीमती आनन्द : नहीं।

मैं : गुण क्या होता है ? कहाँ से आता है ?

श्रीमती आनंद : 'अपने सहचरों के साथ

जिसे बंधन में हमें बंधना होता है

उसी से फिर

मधुरतम मानवीय गुणों का विकास होता है

अपने सहचरों के साथ

जिस बंधन में हमें बँधना होता है.....'

(मैं उसे छू लेना चाहता है। वह मीठी हँसी बिखेरती हुई चली जाती है। आँखों पर पट्टी बाँधे एक पुरुष, एक स्त्री का बाक्सिंग अभ्यास का अभिनटन। तेज संगीत। मैं अपनी पट्टी खोल देता है।)

मैं : अरे, यहाँ कोई नहीं। मैं किसकी आवाज सुन रहा था ? वह कहाँ गयीं ? सचमुच आँखों पर पट्टी बाँधते ही जैसे सारा कुछ बदल जाता है। कैसी चीजें दिखाई पड़ने लगती हैं। कहाँ हो, सुनती हो ?

(वह आती है।)

मैं : कहाँ थीं ?

वह : खेल में मजा आया ?

मैं : यह कपड़ा पकड़ो.....पकड़ो न।

(कपड़े का एक सिरा मैं के हाथ में, दूसरा सिरा वह के, जैसे टेलीफोन लाइन हो।)

वह : जोर से मत खींचो। कपड़ा फट जाएगा।

मैं : नहीं फटेगा। मजबूत है।

वह : हैलो.....हैलो, क्या कहा ? तुम्हारे जूते गंदे हो जाएँगे ?

मैं : ढीला मत करो। हाथ से छूट जाएगा।

वह : हिलाओ नहीं। देखो, रुमाल मैच कर रहा है न ?

मैं : आई लव यू।

वह : थैंक्यू वेरी मच !

मैं : क्या कहा ? कुछ सुनाई नहीं दे रहा।

वह : यह बीच में किसकी आवाज आने लगी ?

मैं : चारों ओर अंधेरखाता है। कहीं कोई ऐसी जगह नहीं जहाँ हम कुछ पर्सनल बातें कर सकें।

वह : हमारे पास कहीं कुछ भी तो ऐसा नहीं।

मैं : क्या कहती हो, हमारे पास किस चीज की कमी है ?

वह : रुमाल और जूते के अलावा हमारे पास और क्या है ऐसी चीज.....?

मैं : क्या बेसिर-पैर की बातें करती हो। चारों ओर इतनी धाँधली है, झूठ, पाखंड, अन्याय, भ्रष्टाचार.....

वह : इसी के खिलाफ जो जितना लड़ता है, जिन्दगी से जुड़ता है, वही है उतना व्यक्तिगत उसका।

मैं : हैलो.....हैलो, क्या कहा ? कुछ समझ में नहीं आया।

वह : 'अपने चारों ओर के

अंधकार के खिलाफ जो जितना लड़ता है

जो जितना जुड़ता है जिन्दगी से

उतना ही है उसका सपना.....'

(आलाप)

## नौवा दृश्य

वह : हैलो.....हॉ जी, आप कौन हैं। ओह (अलग से) किसी बच्चे का टेलीफोन है ! घर में बिलकुल अकेला है। (फोन पर) हैलो, आपका नाम क्या है ? अंशू। बड़ा प्यारा नाम है, अंशू। आपके ममी-पापा कहां गए ? बाहर किसी रिसेप्शन पर-तुम्हें अकेला छोड़कर ? ओहो, रोते नहीं, बेटे। तुम्हारी आया.....नौकर लोग कहां हैं ? ओह, बाहर से दरवाजा बन्द करके घूम रहे हैं। नहीं-नहीं, डरो नहीं। सुनो, अपने कमरे की खिड़की खोल लो। हॉ, पलंग पर चढ़ जाओ। शाबाश ! बाहर क्या दिखाई पड़ा ? चिड़िया, पेड़ पौधे (हँस पड़ती है), बच्चे, आदमी लोग, देखो, अब तो अकेले नहीं हो न ? मैं अब टेलीफोन रख दूँ ? क्या ? गीत सुना दूँ ? (हँसती है) अच्छा भाई, सुनो।

(गाने लगती है। मैं का प्रवेश)

मैं : (खॉसता है।)

वह : (गा रही है)

मैं : (नाक साफ करता है।)

वह : अच्छा, अब चुम्मी दो। आहा ! कित्ता मिट्टा।

मैं : यह क्या है ?

(फोन रखती है।)

मैं : कौन था ?

वह : क्या.....आ ?

मैं : कौन था जिससे रोमांस कर रही थीं ?

वह : बता दूँ ? बुरा तो नहीं मानोगे ?

मैं : अगर सच-सच बताया तो।

वह : तुम सच बताते हो ?

मैं : मेरी जिन्दगी में ऐसी कोई भी बात नहीं, जो तुम्हें न मालूम हो। मेरी सारी चिट्ठियाँ तुम पढ़ती हो, मैं कहां जाऊँ, कब जाऊँ, किससे मिलूँ, कब मिलूँ, कब सोऊँ, कब जागूँ, ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ तुम्हारी निगाह न हो।

वह : मुझे फिर भी तुम पर विश्वास क्यों नहीं ?

मैं : यही तो मैं जानना चाहता हूँ।

वह : क्योंकि मेरे पास अपना कोई निजी काम जो नहीं जो बिलकुल मेरा अपना हो। पर उसे कोई और नहीं दे सकता। और उसे मैं खुद ढूँढ नहीं पाती। तभी मैं तुम्हारी चिट्ठियों को फाड़-फाड़ कर ढूँढती हूँ-बेमतलब तुमसे पूछती रहती हूँ-क्या, क्यों, कब, कैसे, कहां.....?

मैं : यही बताने जा रही थीं ?

वह : क्या है ऐसा मेरे पास, जो तुम नहीं जानते ?

मैं : इस तरह टेलीफोन की बात पचा जाना चाहती हो ?

वह : तुमने अब तक कितनी बातें पचाई हैं ?



मैं : होश में रहो।

वह : तुम्हारा दिमाग सही है ?

(हँसना शुरू करती है।)

मैं : तुम्हारी यह हिम्मत.....यह सारी लकजरी.....यह सारा ठाटबाट.....यू शट अप !

वह : ए, सुनो.....सुनो.....कभी हँस लिया करो।

(हँसती है।)

वह : जब से हमारी शादी हुई—तेईस जनवरी उन्नीस सौ पचपन—तब से मेरे आसपास इस शहर में जितने कत्ल, बलात्कार, डाके, विश्वासघात, लूट, भ्रष्टाचार हुए हैं, उन सब में हमारा हाथ है।

(आवेश में वह को पकड़ता है।)

मैं : जी करता है, गला घोट दूँ और खुदकशी कर लूँ।

वह : उसकी अभी जरूरत है क्या ?

मैं : तुम समझती क्या हो ?

(मैं भीतर जाता है।)

वह : घबड़ाइए नहीं, वह भीतर पिस्तौल नहीं दागेंगे।

(रस्सी लिए मैं का प्रवेश)

मैं : मैं अमानव बना तो सिर्फ मानव बने रहने के लिए, अनैतिक हुआ तो सिर्फ नैतिक बने रहने के लिए।

वह : फिर खुदकशी किसकी करोगे ?

मैं : मैं करूँगा।

वह : नहीं कर सकते। उसके लिए तेज धार वाली कोई चीज चाहिए।

( मैं तेजी से ढूँढने लगता है।)

वह : यहाँ ऐसी कोई चीज नहीं मिल सकती, जिससे खुदकशी कर सको। यहाँ हर चीज में चमक है, धार नहीं। हर चीज यहाँ घातक थी, जब तक हम उसे पा नहीं सकें अब हर एक चीज भोंथरी हो गई है—बिलकुल जंग खाई हुई (हँस पड़ती है।)

अरे—रे—रे.....इस आलपिन से खुदकशी करोगे ! छी:—छी:—छी:.....फेंक दो.....टिटनेस हो जाएगा।

(मैं रुककर देखता रह जाता है।)

मैं : कौन हो तुम ? चाहती क्या हो ?

वह : कोई ऐसी बात, माथा उठाकर कर सकूँ.....

मैं : यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं करने को।

वह : यहाँ अभी हुआ ही क्या है ?

मैं : कोई नहीं करता तो अकेले मैं ही क्यों करूँ ?

वह : मिस्टर आनन्द ने नहीं किया ?

मैं : पर नतीजा क्या निकला ? भूखों मर रहे हैं। उनका अखबार बन्द हो गया, श्रीमती आनन्द स्कूल से हटा दी गई।

वह : फिर भी वे अपना काम कर रहे हैं।

मैं : वह आदर्श विचार ! सब झूठ.....बेमाना।

वह : आदर्श को गाली मत दो, नहीं तो हम पागल हो जायेंगे। (सन्नाटा) हम सबने अलग-अलग जो पत्थर चुने हैं, वे हमें बैठने नहीं देंगे।

(विराम)

मैं : पता भी है—आज मैंने लोगों को 'काकटेल-डिनर' पर बुलाया है। अब हमें चलना चाहिए। मैं कपड़े बदलने जा रहा हूँ। तुम भी कपड़े बदल डालो। किन फिजूल के विचारों में पड़ी रहती हो ? सोचो, ये विचार उन लोगों के दिमाग में क्यों नहीं आते जिनके हाथ में ताकत है—टु एकजीक्यूट.....। मनुष्य स्वभाव से आइडियल नहीं है—जब तक उसके ऊपर किसी का भय न हो, वह कोई भी अच्छा काम नहीं कर सकता। अच्छे विचार से कहीं बेहतर है अच्छे कपड़े पहनना। आओ.....

(मैं अन्दर जाता है।)

वह : जब बिना किसी विचार के ही काम करना है, तो करना ही क्या ? सिर्फ बातें कर हम आत्महत्या कर सकते हैं। हम बनते हैं, होते नहीं। हम कंज्यूम करते हैं, पैदा नहीं करते। हम भोगते हैं, रचना नहीं करते.....इतिहास साक्षी है.....जिनके हाथ में ताकत है, वहाँ विचार नहीं। हर वक्त कपड़े बदलते रहते हैं.....।

(मैं लौटता है।)

मैं : मेरी पर्सनल आलमारी की चाबी कहाँ है ?

वह : कोई चाबी है ?

मैं : मेरा ख्याल है, तुम्हारी अलमारी में मेरी चाबी है।

वह : देखती हूँ।

(जाती है।)

मैं : दरअसल चाबी गायब है। दूसरी चाबी लग भी नहीं सकती। आलमारी तोड़ी भी नहीं जा सकती.....उसमें बहुत सारी ऐसी कीमती चीजें रखी हैं, जो टूट जायेंगी। देखिए न, अब वह अपनी अलमारी की चाबी ढूँढ़ रही हैं (दिखाता है) पर है उनकी चाबी मेरे पास। दरअसल गायब है मेरी चाबी। कहीं बाहर गायब हुई है, और हम खामखा घर के अन्दर ढूँढ़ रहे हैं..... समस्या जब बाहरी हो, और उसका हल हम भीतर ढूँढ़ें, तो क्या होगा.....हम जहाँ हैं, वहाँ नहीं हैं, जहाँ नहीं हैं, वहाँ हैं।

(वह आती है।)

वह : मेरी चाबी कहाँ है ?

मैं : यही तो मेरा सवाल था।

वह : मेरा तेरा.....तेरा मेरा.....(सहसा) ए, चलो कहीं घूम आयें। बाहर कितना खूबसूरत है !

मैं : अरे, हमने इत्ती बड़ी दावत दे रखी है !

वह : फोन कर दो.....कैंसिल ! ऐसे ही घूमने चलें.....पैदल।

मैं : एडवांस दिया जा चुका है।

मैं : बाहर बड़ी धूल है।

वह : ऊपर देखो ।

मैं : अपने चारों ओर देखने से फुर्सत तो है नहीं ।

वह : मेरी कोई भी बात तुम नहीं मानते ।

वह : मेरी कोई भी बात तुम नहीं मानते ।

मैं : बर्बाद करना चाहती हो ?

वह : इतना तो बर्बाद हो गया । जाओ टेलीफोन कर दो होटल में । जाओ । जाते हो या नहीं ?

(मैं जाता है ।)

वह : हमारे पास अपना कुछ भी नहीं है ? ऐसा यहाँ कुछ हुआ ही नहीं ? अब मैं इन्हें और प्रश्न नहीं करने दूंगी, वरना इन्हें सच्चाई का पता लग गया तो यह सचमुच हाथ से निकल जायेंगे । सुनते हो जी । आओ । बाहर निकलो ।

(मैं आता है ।)

वह : आओ टहलें ।

मैं : एक बात सुन लो । आगे बढ़कर अब फिर मैं वापस नहीं लौटूंगा । तुम चलो आगे-आगे ।

वह : नहीं, तुम ।

मैं : अच्छा, साथ-साथ ।

(दोनों एक-दूसरे का हाथ थामे चलते हैं ।)

वह : देखिए, हमें कितना डर है ।

(टहलते हैं ।)

मैं : तुम चलो, मैं आता हूँ.....घर तो बन्द कर लेने दो ।

वह : फिर वही ।

मैं : क्या ?

वह : तुम फिर वही बातें करने लगोगे !

मैं : सिर्फ एक बात कहना चाहता हूँ ।

वह : एक शर्त पर । यह रस्सी कमर में बांध लो ।

(बांधती है ।)

(बाँधता है ।)

अगर बात की तो रस्सी खींच लूंगी ।

मैं : ठीक है-दूसरा सिरा तुम्हारी कमर में ।

(बाँधता है ।)

मैं : क्या बुरा जमाना आ गया । किसी को किसी पर विश्वास ही नहीं । जिधर देखो उधर.....तिस पर यह कहती है ।.....

(वह रस्सी खींचती है-घूमकर अपनी कमर में लपेटती हुई)

मैं : यह क्या, मैं तो जनरल बातें कर रहा था ।

वह : यही है तुम्हारा व्यक्तिगत ।

मैं : हम टहलने निकले हैं ।

वह : अपने—आप में बन्द रहकर टहलने का पाखंड ।

मैं : कहाँ ?

वह : बाहर ।

(रस्सी खोल देती है ।)

ऐसे क्यों देखते हो ?

मैं : बाहर अन्धकार है । बड़ी गन्दगी है ।

वह : वही हमारा मैं है ।

मैं : बेहद खतरनाक है ।

(ले जाना चाहती है ।)

मैं : कहाँ ले जाना चाहती हो ?

वह : उधर, वहाँ.....जहाँ सिर्फ मैं नहीं है.....जहाँ कुछ भी उस मूल्य के बिना सम्पूर्ण और स्वतन्त्र नहीं हैं.....जहाँ सिर्फ है.....पर उसे अभी होना है ।

मैं : नहीं ।

(बाहरी दरवाजे पर कई हाथों की दस्तक होने लगती है । मैं भीतर भागता है । दरवाजा बन्द कर लेता है । वह दरवाजा पीटने लगती है ।)

वह : बाहर आओ ! निकलो !

(मैं भयभीत बाहर आता है ।)

वह : आओ चलें.....यहाँ से !

(वह बाहर निकल जाती है । मैं अपना सामान बटोरने लगता है । सामान के साथ दबकर मैं फर्श पर गिर पड़ता है । उठना चाहता है । सामान के बोझ से खड़ा नहीं हो पा रहा है वह की पुकार आती है ।)

मैं : (चीखता है) नहीं ।

(अनेक कंटो में आलाप । और मध्यांतर)

## दूसरा अंक

(प्रकाश आते ही फिर वही आलाप-संगीत। मैं अपनी चीजों से बुरी तरह उलझा हुआ है। वह आती है।)

वह : क्या हो रहा है ? यह कर क्या रहे हो ? बाहर क्यों नहीं निकले ?

मैं : शी s s..... ।

वह : बाहर खड़ी इन्तजार करती रही।

मैं : शी s s.....देखने दो। देख रहा हूँ। बचपन से अब तक, एक के बाद एक किसका सहारा था ? अपनी असमर्थता कहीं डाली थी ? माँ बाप, ईश्वर, पत्नी, धन साधन, आजकल परसों.....बरसों। यह नहीं यह। यह नहीं वह। वह नहीं वे। नहीं नहीं, वह नहीं, मैं।

वह : बाहर निकले नहीं। भीतर बैठे-बैठे बातें बना रहे हो।

मैं : तुम बाहर गयीं थीं। क्या हुआ ?

वह : तुम्हें क्या हुआ ?

मैं : आँखें फूटी हैं ?

वह : क्या ?

मैं : मैं कुछ नहीं पा सकता। कुछ नहीं पा सका। तुम बाहर गयीं थीं दूसरों को देने ? या पाने ? आहाह ! बड़ी समाज-सेविका हैं। त्यागी हैं, महान हैं। कभी अपने इस घर को देखा है ? देखो यह क्या है ? यह क्या है ? यह.....?

वह : यह क्या है ?

मैं : देखो।

वह : इसमें देखना क्या है ?

मैं : शी s s.....

(विराम)

वह : टेलीफोन। कागजात। नामों की लिस्ट। दवाइयों-कपड़े। हिसाब-किताब। अखबार। फाइलें.....ये सब चीजें तुम्हारी हैं।

मैं : हमारी हैं।

वह : इसमें क्या देखना ?

मैं : देखना ही तो है, माई डियर। (वाक्य खींच-खींच कर बोलता है जैसे विलम्बित में कुछ गा रहा हो।) अब तक देखा कहीं ?

एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा बनता चला गया.....

वह : हाँ, बनते चले गये।

मैं : बनते चले गये।

वह : हुए कुछ नहीं।

मैं : हुए कुछ नहीं। सब मैं हो गए। कौआ कान ले गया। सब दौड़ने लगे।

(वह हँस पड़ती है।)

मैं : शुक है तुम्हें हँसी तो आयी।

वह : मुझे तुम पर हँसी तो आयी।

(हँसना)

मैं : मुझे तुम पर रोना आया।

(रोने का अभिनय करता है।)

वह : बोलो किस चीज के लिए रो रहे हो ? क्या चाहिए ?

मैं : खामोशी ! जहाँ कुछ न हो।

वह : कुछ मानें ?

मैं : डर-भय।

(मैं जाता है।)

वह : यह तो बड़ी खतरनाक बात है। अगर इन्होंने बाहर से आँखें फिराकर अपने-आप को देखना शुरू किया फिर तो सारा गुड़-गोबर हो जायेगा। अब मुझे देखेंगे नहीं तो मैं किसे क्या दिखाऊँगी ? ओफोओ, शादी कर पति-पत्नी बनकर रहना कितना मुश्किल काम है।

मैं : यह लो चाय। यहाँ से बाहर जाने और बाहर से भीतर लौटने में थक गयी होंगी।

वह : यह पहली बार तुम्हारे हाथ की चाय पी रही हूँ।

मैं : हिसाब मत करो। पियो।

वह : पियो की जगह जियो कह दो तो डायलाग हो जाएगा।

मैं : डायलाग में क्या रखा है, अभी लो.....तुम्हारे दिमाग के क्या कहने !

वह : तुम्हारी दौड़ के क्या कहने !

मैं : तुम गीत भूल गयीं।

वह : मैं की रूमाल गुम हो गई। मैं चिल्लाने लगा।

मैं : वह मैं बन गयी। वह बॉटकर देखने लगी। वह बनती चली गयी। होना गुम हो गया।

वह : बुनियादी बात पर आओ।

मैं : बुनियाद गायब है। वही तो देखने लगा था, पहली बार, पहली बार।

वह : बाहर क्यों नहीं निकले ?

मैं : बाहर तुम थीं इसी लिए। तुम अपने-आप को मुझसे बड़ा समझती हो। मैं अपने-आप को तुमसे बड़ा मानता हूँ। और कोई उपाय नहीं था। न तुम्हारे लिए न मेरे लिए। इसलिए यहाँ जो कुछ हुआ, जो कुछ होता है और जो कुछ होगा, उसकी जिम्मेदारी दूसरे पर है हम केवल बातें करते हैं। बातें कर हम जिम्मेदारी से मुक्त होते हैं। बातें हमारे लिए चटनी हैं, अचार और मुरब्बे हैं।

वह : बातें करने का यह हक छीन लिया जाना चाहिए।

मैं : वाह—वाह क्या बढ़िया डायलाग है। (दर्शकों से) अब डायलाग का असली मौसम आ गया। जैसे मौसम आते ही गर्म कपड़े निकाले जाते हैं, उसी तरह मैं भी निकालता हूँ। जरा—सा लोहा देना पड़ता है। (उधर) यह हक क्या होता है ? (उधर) बात बनी नहीं। भरी आवाज में बोलना पड़ेगा। ऐसा हुआ—जो मैंने चाहा, तुम वही बनती चली गयीं !

वह : क्या ?

मैं : जो तुमने चाहा मैं वह क्यों नहीं बना ?

वह : तुमने कभी कहा ?

वह : तुमने कभी सुना ?

मैं : हाँ, तुम अक्सर भाषण देती रहीं.....मैं यह क्या से क्या होता जा रहा हूँ ! मैं बाहर से आकर शून्य में कड़े—कड़े शब्दों के तीर चलाता हूँ ! मैं अमानुष होता चला जा रहा है ! वगैरह—वगैरह.....!

वह : क्या यह कहना नहीं था ?

मैं : अगर भाषण को कहना मान लिया तो इस जमीन पर केवल शब्द ही शब्द होंगे—इन्सान गायब।

वह : तुमने क्या चाहा ?

मैं : जो तुमने चाहा।

वह : मैंने क्यों चाहा ?

मैं : क्योंकि मैंने चाहा। पर मैंने क्यों चाहा ? मेरी वे इच्छाएँ कहाँ से आयीं ? अब देख रहा हूँ। मेरे मैं से आयीं। पर मेरा यह मैं कहाँ से आया ? यह मैं मेरे मन से पैदा हुआ, तुमसे बड़ा। आसपास से इसका पालन—पोषण हुआ। हक के नाम पर इसने डाके डाले। प्रेम, दोस्ती, त्याग, सेवा के नाम पर इसने दूसरों के शोषण किये।

वह : चलो यह लिखकर दे दो !

मैं : क्यों ?

वह : मेरा हक है कि तुम मुझसे ईमानदार रहो।

मैं : हक लिखा हुआ होता है ?

वह : जी हाँ।

मैं : हक माने जो लड़कर लिया जाए ! कभी मुझसे अपने हक के लिए लड़ाई की ? मैं जो चाहता चला गया, तुम वही चुपचाप बनती चली गयीं। जो तुमने चाहा, मैं वही बनता चला गया, हमने कबकी लड़ाई ? हम दूसरों के बारे में फुस—फुस बातें करते रहे।

(विराम)

वह : चलो डिनर का वक्त हो गया।

(वह जाती है।)

मैं : (दर्शकों से) कितनी खुशी की बात है—बातों—बातों में समय कट गया और डिनर का वक्त हो गया। गोया समय समय नहीं है, कोई बला है जो टला तो सही। देखिए बला और टला में तुम मिल गया। जी हाँ, कभी—कभी मेरे मुंह से कविता

निकल पड़ती है। निकल पड़त है कहना ठीक नहीं होगा, फूट पड़ती है। डिनर का वक्त हो गया, पर भूख तो गायब है। भूख की दवा लेनी होगी !

(पुकारता है।)

मैं : सुनती हो जी। ओ जी ! (दर्शकों से) 'जी' इन औरतों को बेतरह पंसद है 'जी'। जीजाजी, फूफा जी, ओ जी, हैं जी, जी, हॉ जी। अभी देखिए—ओ जी बुलाने से वह कितनी खुशी—खुशी यहाँ पधारती हैं। (पुकारना) ओ जी ! सुनती हो जी। ओ जी !

(वह निकलती है।)

वह : है जी।

मैं : क्या ?

वह : मेहनत जी !

मैं : तो एक प्लेट मेहनत ला दो जी।

(वह जाती है।)

मैं : दरअसल मेरा पेट बढ़ गया। बिना भूख के खाते जाओ, तो इसका असर सीधे पेट पर पड़ता है। खाने से भूख तो मिटती नहीं। खाना अपनी जगह, भूख अपनी जगह। जब दोनों का तालमेल नहीं बैठता तो एक चीज बढ़ती है तो दूसरी चीज छोटी होती चली जाती है। छोटा मेरा दिल हुआ। उल्टे इस छोटेपन की सच्चाई छिपाने के लिए मेरा हर काम यह दिखाने के लिए होता है कि मैं सचमुच बड़ा हूँ। भीतर से छोटा पर बाहर से बड़ा बनने में सब कुछ गड्ढमड्ड हो गया। यही सब बीमारियों की जड़ है। पर यह बात डाक्टर लोग नहीं जानते। डाक्टर कहते हैं—खाना कम करो। सुबह—शाम टहलों। टहलने का क्या अंजाम होता है—आप देख रहे हैं।

(इस बीच वह ने मंच के एक सिरे से—बीचोंबीच चौड़ाई—दूसरे सिरे तक डिनर टेबुल के लिए एक कपड़ा फैलाकर बाँध दिया है। उस पर मानों तमाम चीजें रख दी गयी हैं। बोलते हुए मैं के गले में वह नैपकिन लगा देती है ओर हाथ में प्लेट थमाती है।)

वह : चलो, डिनर लो।

मैं : आइए आइए, मिस्टर आनन्द, आइए.....पधारिये, तशरीफ रखिए.....।

वह : दिमाग तो ठिकाने हैं ? कहाँ हैं मिस्टर आनन्द ?

मैं : ओहो, क्या हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि अचानक कोई मेहमान आया है ? अकेले—अकेले डिनर में मजा नहीं आता। बात ही कुछ और हो जाती है जब साथ में कोई दूसरा हो।

वह : दूसरा या दूसरी ?

मैं : तुम हर समय डरी रहती हो। उसी दूसरी से। कोई दूसरी आकर तुम्हें धक्का न मार दे।

वह : तुम नहीं डरे रहते मिस्टर मलहोत्रा से, मिस्टर जैन और सक्सेना से ?

मैं : चलो मान लेता हूँ ; तुम भी स्वीकार करोगी ?

वह : स्वीकार करती हूँ।



मैं : यह हुआ पहला कदम, भीतर से बाहर निकलने की दिशा में। माफ कीजिएगा, मिस्टर आनन्द, ये हमारी आपसी बातें हैं। असल बात यह है कि जमाना हुआ हमारी आपस में बातें नहीं हो पायीं। हम एक-दूसरे को भाषण देते रहे। और एक-दूसरे से आँखें चुराये अपनी-अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहे। पर एक जगह पहुँचकर हमें पता चला-एक, दूसरे पर ही निर्भर है। इच्छा पैदा ही होती है, दूसरे के कारण। अरे आप तो कुछ नहीं ले रहे। यह लीजिए बैंगन.....।

वह : दिमाग तो नहीं फिर गया ! किससे बातें कर रहे हो ?

मैं : मिस्टर आनन्द से।

वह : कहाँ हैं ?

मैं : कहाँ नहीं हैं ?

वह : कहाँ हैं ?

मैं : यह हैं।

वह : कहाँ ?

मैं : यह हैं। यहाँ बैठे हैं।

(किसी चीज को कपड़े के ऊपर खड़ा करता है।)

मैं : हैलो मिस्टर आनन्द, कैसे हैं ? और क्या हाल-चाल है ?

वह : मुंह बंद।

(मुँह में कोई चीज डाल देती है।)

वह : कहिए मिस्टर आनन्द, आप तो देश-समाज में बहुत घूमते-फिरते हैं, आपकी क्या राय है.....?

मैं : (चीखता है) चटनी !

वह : ओ हो, कोई तमीज नहीं ! यह डिनर टेबुल है।

मैं : यह मेरा घर है।

वह : घर के माने यह नहीं कि इस तरह चीखो-चिल्लाओ।

मैं : माफ कीजिए, मिस्टर आनन्द।

(विराम)

वह : हाँ बताइये, मिस्टर आनन्द, आपका क्या ख्याल है ? लोग आजकल क्या सोच रहे हैं ?

मैं : (और जोर से) पापड़ ! आचार !!

(वह गुस्से से घूरती है।)

मैं : मेरा भोजन हो चुका। बाज वक्त मुझमें 'एसिडिटी' बढ़ जाती है। तुम्हें भी तो कभी-कभी.....खाओ-खाओ.....मतलब भोजन के साथ थोड़ा खट्टा-मीठा चुरमुरा।

वह : लो यह खाओ !

मैं : खाता हूँ, पर पेट नहीं भरता, बल्कि पेट खराब हो जाता है।

वह : खाने के बाद दवा ले लेना।

मैं : कहिए, मिस्टर आनन्द, आपका हाजमा कैसा है ? (हँसता है) ओ हो, खूब कहा ! खूब कहा ! मनुष्य वह है जो ना कह सके। बात यह है कि हम पर जो मॉगे होती हैं, मसलन यह भोजन की बात ही ले लीजिए, किसी के कहने से और खा लेना अनुचित है। इसलिए मैं अनुचित मॉग पर भी हॉ करता हूँ तो यह मेरी कमजोरी है। ठीक कहा, बिलकुल ठीक। मैं अपने-आप को छोटा बनाता हूँ। बचपन में छोटा था प्रकृति के हाथों से। अब अपने-आप को खुद छोटा बनाता हूँ। आदत जो पड़ गयी। माफ कीजिए, मैं आपको बोर तो नहीं कर रहा ?

वह : मुझे कर रहे हो ! खाने का सारा मजा किरकिरा।

मैं : किर किर किर किर किरकिरा !

वह : मिस्टर आनन्द, देश के बारे में कुछ बताइए।

मैं : ताकि खाना जायकेदार लगे।

वह : चुप रहो !

मैं : लो। मैं यहाँ चुप खड़ा हो जाता हूँ। पर शर्त लगाता हूँ, तुम चुपचाप खाना नहीं खा सकतीं।

(विराम)

वह : अरे यह तंदूरी चिकन तो ली नहीं ?

(मैं टेबुल के नीचे छिप गया है।)

वह : कहाँ गये ? कहाँ हो ?

मैं : जहाँ तुम हो।

वह : कहाँ हो ?

मैं : बाथरूम में।

(विराम)

वह : मिस्टर आनन्द, आप इतने चुप क्यों हैं, खाना कैसा है ?

(मैं ऐसे बोलता रहता है जैसे कि वह चुपचाप सोच रहा हो।)

मैं : बहुत खूब। लाजवाब ! वाह वाह ! इसके अलावा बेचारा मेहमान और क्या कह सकता है ? तभी तो ऐसे लोगों को खाने पर बुलाते हैं, और उल्टे उन्हें खाते हैं। शी s s.....।

(विराम)

वह : हम लोग ऐसे क्यों होते जा रहे हैं, मिस्टर आनन्द ?

मैं : यह सवाल अपने-आप से क्यों नहीं पूछतीं, बहिन जी ?

वह : आज आप बिलकुल खामोश हैं।

मैं : डिनर का मजा नहीं आ रहा।

वह : कुछ बताइए न। कुछ हाल-चाल !

(वह के पैर में मैं चिकोटी काटता है। वह चीखकर खड़ी हो जाती है।)

वह : यह क्या बदतमीजी है !

मैं : यह क्या बदतमीजी है कि मेहमान का इस्तेमाल खाने में पायके लिए करती हो !

वह : तुम मेरा इस्तेमाल किस लिए करते हो ?

मैं : तुम मेरा इस्तेमाल किस लिए करती हो ?

वह : तुम !

मैं : तुम !

वह : चलो हम लोग 'मैं' से 'तुम' पर तो आये।

(विराम)

वह : तुम्हारी आलमारी की चाबी कहाँ है ?

मैं : तुम्हारी आलमारी में।

वह : मेरी आलमारी की चाबी कहाँ है ?

मैं : रेडियोग्राम पर।

(वह जाने लगती है। मैं रोककर।)

मैं : मेरी आलमारी में तुम्हारा क्या है ?

वह : कुछ गायब हो गया है। शायद उसी में हो।

मैं : क्या ?

वह : यह तो पता नहीं। पर कुछ खो गया है.....ठीक से याद नहीं पड़ता। पर उसकी कमी महसूस होती है।

(जाती है।)

मैं : (दर्शकों से) मेरी चाबी मिल गयी। बाहर गिरी थी, लान में। पर अब इनकी चीज गायब हो गयी हैं कौन—सी चीज, यह पता नहीं। पता तभी लग सकता है जब उसकी जरूरत हो। बिना जरूरत के चीजें इकट्ठी करते जाने का मतलब है बीमारी। याददाश्त की बीमारी।

(वह आती है।)

वह : मिल गयी !

मैं : क्या ?

वह : मेरी चाबी।

मैं : लाओ हम लोग अपनी—अपनी चाबियाँ फेंक दें। बंद आलमारियाँ तोड़ दें।

(चाबियाँ हवा में फेंकता है।)

वह : यह क्या करते हो ?

मैं : चाबियाँ फेंक रहा हूँ।

वह : मजाक बन्द करो।

मैं : बताओ, मेरे हाथ में क्या है ?

वह : चाबी।

मैं : तुम्हारी या मेरी ?

वह : मेरी।

मैं : जीत गयीं। तुम्हारी।

वह : नहीं, तुम्हारी।

(देती है। मैं दोनों चाबियों, दर्शकों के ऊपर फेंक देता है।)

वह : तुम्हारा दिमाग फिर गया।

मैं : बहुत अच्छा हुआ।

वह : मुझे भी पागल करके छोड़ोगे।

मैं : छोड़ नहीं सकता, यही तो बात है।

वह : जाओ चाबी ढूँढकर ले आओ।

मैं : अब कोई जरूरत नहीं।

वह : जरूरत है।

मैं : किस लिए ?

वह : यह भी बताना होगा ?

मैं : अब सब कुछ बताना होगा। नहीं तो मैं पागल, तुम बेवकूफ.....

वह : मुझे बेवकूफ कहा ? यह क्या हो गया है तुम्हें ! डाक्टर बुलाती हूँ।

(वह फोन पर बातें करती है। मैं दर्शकों से)

मैं : 'इन्हें' देख लीजिए। गौर कीजिए, अब मैं 'इन्हें' कहता हूँ। तो यह डाक्टर के बहाने अपनी किसी सहेली से किसी दूसरी सहेली के बारे में बातें कर रही हैं और वह दूसरे सिरे वाली सहेली अपनी किसी तीसरी सहेली के बारे में बता रही है। देख लीजिए, साफ जाहिर है—जिस ढंग से जिस अदा से बातें कर रही हैं

(मैं जाता है। वह फोन पर अब खूब मजे से हँसकर न जाने क्या बेसिर-पैर की बातें कर रही है।)

वह : अरे, सुना नहीं ! हाय, तुम्हें पता नहीं। पूरे तीन महीने हो गए थे, तीन।.....अच्छा ! ऐसा ? (हँसी) इतने हरगिज नहीं हो सकते। तो बड़ी घमासान रही। हॉ तो मैं उस दिन वहीं थी। .....अरे जवानों और बूढ़ों में भी हजारों हैं जो इस भले आदमी से पूछे कि जब तू वहीं था और तुझे सब पता था तो मेरी खोपड़ी क्यों चाट रहा है। जो भी हो, बड़ी मजेदार बात है। हॉ हॉ, क्यों नहीं ? तो पक्की बात ! हाय, क्या कहने ! अरे, सुन तो सही.....!

(मैं डाक्टर बना निकल कर आता है।)

मैं : नमस्ते, श्रीमती, मिसेज.....माफ कीजिए आपके पतिदेव का क्या नाम है ? ओहो ? और माफ कीजिएगा, आप 'हसबैंड' कहती हैं। ओ हो हो.....और माफ कीजिएगा, आपके वे कहाँ हैं ?

वह : मेरे सामने तशरीफ का टोकरा लिए खड़े हैं।

मैं : माफ कीजिएगा, मैं डाक्टर हूँ। आपने अभी मुझे फोन किया।

वह : कतई नहीं।

मैं : फिर आप पति से झूठ बोलती हैं कि मैं बीमार हूँ और डाक्टर को फोन करने जा रही हूँ। कबूल कीजिए आप झूठ बोलती हैं।

वह : तुम बहुत सच बोलते हो।

मैं : अकेला कोई सच नहीं बोल सकता। सच बोलने के लिए दो चाहिए दो।

वह : ओहो बाबा, तुम तो खामखा गंभीर हो गए। डिनर के बाद ऐसी बातें.....'ब्लड प्रेशर', 'हाइपरटेंशन' और 'इनसोमनिया' हो जाएगा।

मैं : मुझे हुआ है, तुम केवल बातें कर रही हो।

वह : अच्छा-अच्छा खेली, कर लेते हैं-तुम डाक्टर हो। मैंने तुम्हें बुलाया है।

मैं : ओके।

वह : ओके।

मैं : अपनी जबान दिखाओ।

(वह तरह-तरह से जबान दिखाकर मानो चिढ़ा रही है।)

मैं : (दर्शकों से) पहले मैं जब केवल एक मैं था तब मैं इसी तरह खेल किया करता था। मैं खेलता था, यह मेरी पार्टनर हुआ करती थी। अब यह खेलती है, मैं दर्शक बन इसके साथ खेलता हूँ। (रुक कर) अब आँखें दिखाइए।

(वह तरह-तरह से आँखें दिखाती है।)

मैं : नाड़ी दिखाइए। हाथ ढीला रखिए। बदलन ढकिये। लाज-शर्म कीजिए।

वह : लाज-शर्म तुम्हें है ? किसी-न-किसी बहाने तुम मुझे इसी तरह देखना चाहते हो। आओ अब खेल करो न। रुक क्यों गए ?

मैं : जब बोलती हो तो बार-बार दायों हाथ क्यों उठाती हो ? क्या दिखाना चाहती हो ?

वह : जो तुम चाहते हो।

मैं : तुम क्या चाहती हो ?

वह : जो तुम चाहते हो।

मैं : तुम्हारा तुम कहाँ गया ? तुम्हारे संगीत से खिंचकर तुमसे शादी की और वही संगीत नष्ट हो गया। इससे यह साबित हुआ कि तुम्हारा संगीत तुम्हारा अपना नहीं था। वह एक जाल था, किसी पति को फँसाने के लिए।

वह : अब उल्टी बात करने लगे।

मैं : बाहर जाकर क्यों लौट आयीं ?

वह : बाहर अन्धेरा था।

मैं : वही तो तुम्हारा था।

वह : और तुम्हारा ?

मैं : मेरा मेरे भीतर था, बाहर उसी का विस्तार था।

वह : तुम्हें आज कहीं जाना-आना नहीं ?

मैं : लो जाता हूँ।

(चलने लगता है। सहसा मानो चोट खाकर।)

मैं : धक्का क्यों दिया ? कैसे चलती हो, मेरी उंगलियाँ कुचल दीं। मेरी पाकेट किसने मारी ? मेरी पीठ पर चोट ! तुमने कभी महसूस किया, चोट क्या होती है ? दूसरे की चोट। तुम मानें मैं। मैं माने तुम।

वह : मेरे पास तुम्हारी बकवास सुनने की फुर्सत नहीं। मुझे अपने काम पर जाना है।

(मैं उसे रोकता है। वह हाथ झटक कर निकल जाना चाहती है। मैं उसे पकड़ लेता है।)

मैं : नौकरी छोड़ दो।

वह : क्यों ?

मैं : मैंने दिलाई थी। अपने स्वार्थ के लिए तुम्हें इस्तेमाल करना चाहा था। तब तुम तड़पी थीं, कितना—कितना बुरा—भला कहा था।

वह : अब तुम मुझे दूसरी तरह से इस्तेमाल करना चाहते होगे।

मैं : ऐसा मत होने दो।

वह : अब बहुत देर हो चुकी।

(तेजी से चली जाती है।)

मैं : आप सोचते होंगे, मैंने पैतरा बदल दिया। पर यकीन मानिए खेल—खेल में मुझे एक चीज मिल गयी। मैं इस घर से बाहर नहीं निकल पाया, किस चीज में बंधा, किस बोझ से दबा रह गया ? मैंने पाया। पहले बच्चा था। माँ—बाप की देखरेख में आगे बढ़ें। मतलब, हम बच्चे से बड़े हुए। तो बच्चा ही हमारे मूल में है। और हमारे शरीर में माँ—बाप के रूप में एक गार्जियन आ बैठा है। इसे आप देख लीजिए। बच्चे की पहचान है—वह केवल लेना जानता है। उससे कुछ पूछो, वह झट से जवाब देगा बिना कुछ सोचे—समझे। उसका संसार केवल हॉ और नहीं में बँटा है। और गार्जियन की पहचान है—बच्चे की हिफाजत करना। दूसरों की गलतियाँ बताना, बिना माँगे राय देना। आलोचना करना। उपदेश देना। (रुक कर) अब देख लीजिए, बच्चा और गार्जियन दोनों एक साथ। (पुकारता है) सुनती हो जी। ओ जी !

मैं : अरे, तुम तो झट से आ गयीं !

वह : जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलती।

मैं : क्या हो गया मेरी बेबी को ?

वह : मैं झट से आ गई तुमने ऐसा क्यों कहा ?

मैं : मैं भी तो नन्हा—मुन्ना गुड्डा हूँ। हर चीज पर आश्चर्य करने वाला।

वह : देखो मैं कैसी लगती हूँ ?

मैं : गजब ! कमाल है। वाह ! (उधर) देख लीजिएगा बच्चों का खेल। पहले भी खेलते थे, पर तब यह पता नहीं था।

वह : देखो मैं तुम्हारे लिए क्या ले आई।

मैं : नमकीन। मिठाई।

वह : नाअ !

मैं : खिलौना ! लॉलीपॉप !

वह : बिलकुल नहीं !

मैं : झुनझुना ! पें.....पें.....पेंअ !

वह : हार गए न ?.....यह देखो, मिस्टर मलहोत्रा तुम्हारे लिए पेरिस से कमीज, इंगलैंड से ब्लेड, जापान से सूट के पकड़े ले आये हैं।

मैं : तुम्हारे लिए क्या लाये ?

वह : जो तुम ले आये थे कभी मिसोज मलहोत्रा के लिए।

मैं : जाओ, नहीं बोलता.....।

वह : मेरा चेहरा देखो।

(कान में पहने हुए गहने को दिखाती है।)

मैं : अब चेहरा देखने से कुछ नहीं होगा, हैं जी, मुंह खोलो। दाँत दिखाओ। किस-किस के खून लगे हैं दाँतों में ?

वह : ऐसे क्यों बोलते हो ? कोई अपनी पत्नी से ऐसी बातें करता है ?

मैं : अच्छा, मेरे दाँत देखो।

(दिखाता है।)

वह : मैं नहीं देखती।

मैं : क्यों नहीं ?

वह : ऐसे।

मैं : ऐसे क्यों ?

वह : मुझे प्यार नहीं करते ?

मैं : यह देखो, मेरे दाँत।

वह : खूब साफ हैं। और अच्छे ब्रश इस्तेमाल किया करो। मेरे अच्छे गुड्डे, जाओ मुंह साफ कर आओ। जिद्द नहीं करते।

(मैं गा पड़ता है :)

'चन्दा मामा दूर के

पुए पकावैं बूर के, आप खायें थाली में मुझको दें प्याली में।

प्याली गई टूट

मुन्ना गया रूठ,

बजा-बजा कर तालियों,

देवें बच्चे गालियों.....।

(ताली बजाता हुआ जाता है।)

वह : यह क्या देख रही हूँ-मेरा पति सचमुच बच्चा ही है क्या ?

मैं : (आता है) अब देखो मेरा मुंह। चुम्मी दो।

वह : हटो जानवर कहीं के !

मैं : हाँ, मैं जानवर हूँ।

वह : चुप रहो।

मैं : सीधे से कह देतीं, यह चीखना क्यों ?

(मैं गुमसुम एक ओर बैठ जाता है। वह आती है।)

वह : यह सब क्या होता जा रहा है तुम्हें ? कैसी सूरत-शक्ल बना रखी है ? चलकर किसी बड़े डाक्टर से 'चेक-अप' क्यों नहीं करा लेते। कुछ बोलते क्यों नहीं ? क्यों खामखा मुझे तबाह करने पर लगे हो ? आखिर बात क्या है ?

(वह के इन सारे प्रश्नों के जवाब में मैं मूक मुद्राओं से जवाब देने की मानों कोशिश करता है।)

वह : (चीखती है) जवाब दो।

मैं : (दर्शकों से) देखा न ? अब आप ही लोग जवाब दीजिए।

वह : तुम जवाब क्यों नहीं देते ?

मैं : जवाब खिलौना है।

(खिलौना बजाता है।)

वह : बन्द करो।

मैं : डर लगता है मेरी बेबी को ?

वह : पता नहीं, क्या हो गया है तुम्हें !

मैं : मुलाकात हो गई।

वह : (बदले स्वर में) ओ हो, ऐसे नहीं कहते। लेखक लोग ऐसी बातें करें। हम साधारण लोग हैं।

मैं : साधारण कैसे ? कहाँ ? इत्ती बड़ी कोठी ! इतना बड़ा हिसाब-किताब ! इतनी बड़ी-बड़ी बातें। इतनी लम्बी लिस्ट !

(लम्बा कागज फैलाता है) बचपन से अब तक पिटते-पिटते छोटे हो गये हैं न, इसलिए हर चीज में बड़ा दिखने के लिए....

....।

वह : तुम्हें बातें करने का रोग हो गया है।

मैं : क्यों बातें शुरू कीं ? हम अच्छे-खासे टहलने निकले थे।

वह : चलो वापिस लौट चलें।

मैं : अब वापस लौटना मुश्किल है।.....अच्छा हम कुछ बोलें नहीं, देखें।

वह : क्या ?

मैं : एक-दूसरे को देखें। देखने से सम्बन्ध जुड़ता है।

वह : अच्छा। चलो देखें।

(दोनों एक-दूसरे को देखने लगते हैं।)

वह : (सहसा) अरे तुम्हारे दवा खाने का वक्त हो गया।

मैं : (पकड़ लेता है।) बहाना ! हर वक्त बहाना ! देखने से भागना !



वह : छोड़ दो ।

मैं : किसने पकड़ रखा है ?

वह : जाने दो ।

मैं : क्या चाहती हो ?

वह : बाहर कितना अन्याय है !

मैं : ये किताबी बातें हैं—दूसरे से सुनी हुई ।

वह : तुम बड़ी—बड़ी बातें नहीं कर रहे ?

मैं : मैं बड़ी—बड़ी बातें इसी लिए कर रहा हूँ कि मैं छोटा हूँ ।

वह : क्या ?

मैं : जो हूँ उसे कबूल करता हूँ ।

वह : (देखती रह जाती है ।)

वह : क्या मैं तुम्हारी पत्नी नहीं ?

मैं : यह सम्बन्ध है । तुम क्या हो ?

वह : मेरी ममी ने मेरा खिलौना छीन लिया । मेरे भाई ने मेरे बाल खींचकर मुझे मारा । मेरी टीचर मुझे बेरहमी से धक्के मारकर गंदे बाथरूम में बन्द कर रही हैं । मेरे पापा मुझे घर में अकेली छोड़कर ममी के साथ चले गए !

मैं : डरो नहीं, अब तुम वह असहाय बच्ची नहीं ।

वह : नहीं—नहीं—नहीं ! छोड़ दो मुझे !

मैं : स्वीकार कर लो । डर छूट जाएगा ।

वह : कौन हो तुम ?

मैं : पिताजी मुझे बेतरह पीट रहे हैं । माँ मुझे बचाने दौड़ती हैं । पिताजी मेरी माँ को मार रहे हैं । मैं नन्हा—सा बच्चा हूँ, मुझे इतनी बेरहमी से क्यों मारते हो ? मैं इतना लाचार हूँ, निर्बल—कमजोर हूँ, तभी मेरी चीजें छीनते हो ? रोता हूँ तो मारते हो । ठीक है, होने दो मुझे बड़ा, इतनी ताकत इकट्ठी करूँगा कि एक—एक से बदला लूँगा ।

वह : नहीं—नहीं !

मैं : वही अपमानित डरा हुआ शिशु..... ।

(दोनों एक—दूसरे को अंक में भर लेते हैं)

वह : चलो अपने घर चलें । अब साथ—साथ । एक आगे, एक पीछे नहीं । एकसाथ.....चलो.....बढ़ाओ पैर मुझे पीछे छोड़ने के लिए दौड़ोगे नहीं ।

मैं : पीछे रह जाने के लिए कोई बहाना नहीं करोगी !

वह : चलो !

मैं : चलें । देखते हुए !

(दोनों एक—दूसरे को देखने लगते हैं । आलाप—संगीत धीरे—धीरे तेज होता है ।)

मैं : जिस रास्ते से हम यहाँ आये थे, बीच में एक नदी पड़ी थी।

वह : नदी पर एक पुल था।

मैं : पुल पर मैंने अपना घर बना लिया।

वह : वह घर नहीं, इमारत है।

मैं : पुल पर इमारत बनाना सबसे बड़ा अपराध है।

वह : आओ उस इमारत की चाबियाँ फेंक दें।

(फेंकने का अभिनय)

मैं : चलो, घर चलें।

वह : घर कहाँ है ?

मैं : हम। (दोनों)

(दोनों एकसाथ चलते हैं। अनेक कंटों में आलाप-संगीत उभर कर तेज होता है। दोनों एक-साथ चलते जाते हुए दिखते हैं।

{परदा}

## अकादमी पुरस्कार विजेता

### लक्ष्मीनारायण लाल

आधुनिक हिन्दी साहित्य के परम महत्वपूर्ण नाटककार, विशिष्ट कथाकार और साहित्य-चिंतक हैं। ऐसे समर्थ नाटककार, जिन्होंने सच्चे अर्थों में हिन्दी नाट्य को आधुनिक बनाया और राष्ट्रीय स्तर पर समादृत किया।

जन्म : 4 मार्च, 1927

शिक्षा : एम0ए0 1950, डॉक्टरेट 1952-अध्यापक रहे, आकाशवाणी में ड्रामा-प्रोड्यूसर रहे, नेशनल बुक ट्रस्ट में सम्पादक रहे, पर स्वतन्त्र लेखन ही इनका मूलाधार रहा।

### : प्रमुख कृतियां :

#### नाटक

करफ्यू, एक सत्य हरिश्चन्द्र, सूर्यमुख, गंगामाटी, सगुनपंक्षी, यक्षप्रश्न, नरसिंह, कथा, दर्पण, मादा कैक्टस, मिस्टर अभिमन्यु, अन्धा कुआं, मन्नू।

#### उपन्यास

मनवृन्दावन, बड़ी चम्पा छोटी चम्पा, रूपाजीवा, प्रेम अपवित्र नदी।

#### जीवनी

जयप्रकाश

अनेक कहानी और एकांकी संग्रह